धर्मोदय

काकासाहब कालेलकर

नवजीवन प्रकाशन मन्दिर
अहमदाबाद

धार्मिक अनुभवका अर्थ क्या है? आज-कलके बहुतसे लोग मानते हैं कि धर्मका अर्थ है ओश्वर-विषयक अनुभव अथवा अतीन्द्रिय अन्तरात्मा विषयक गूढ़ अनुभव। पुराने जमानेके बहुतसे लोग और आजके भी बहुतसे पिछड़े हुअे लोग धर्मानुभवके सम्बन्धमें कितने ही विचित्र खयाल रखते दिखाओ देते हैं। कोओ अप्राकृतिक घटना घटे — अुदाहरणार्थ, पत्थर पानी पर तैरे, जानवर मनुष्यकी वाणी बोले, अचानक मरा हुआ मनुष्य जीवित हो जाये, अनपेक्षित मदद मिले, गैबी आवाज सुनाओ दे, बिना कारणके प्रकाश दिखलाओ पड़े, सुगंधका अनुभव हो — तो ही वह धर्मानुभव है, अैसी अुनकी मान्यता मालूम होती है। परन्तु सामान्य रूपसे कुदरतमें जो न मिलता हो अुसके मिलनेसे अुसमें 'धर्म' प्रकट होता है अथवा वह मनुष्यकी प्रगतिका द्योतक है, अैसा मानना भूल है।

जिस अनुभवके द्वारा आत्माका विकास होता है, व्यक्तित्व बढ़ता है, अतीन्द्रिय वस्तुओं पर अुचित श्रद्धा बैठती है और मनुष्य अिन्द्रिय-सुखकी लालसा छोड़कर, देहका मोह छोड़कर अूंचे चढ़ता है, वह धर्मानुभव है। अुत्कट प्रेम, निरपेक्ष सेवाभाव, सत्य और ज्ञानकी अदम्य खोज, शीतल भावसे अथवा प्रसन्नतासे किया जानेवाला बलिदान, सब भूतोंके प्रति सिद्ध हुआ समभाव — ये सब सच्चे धर्मानुभव ही हैं।

धर्मोदय

काकासाहब कालेलकर

अनुवादक

सीताचरण दीक्षित

नवजीवन प्रकाशन मन्दिर

अहमदाबाद

मुद्रक और प्रकाशक
जीवणजी डाह्याभाअी देसाअी
नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद – १४

© सर्वाधिकार नवजीवन ट्रस्टके अधीन, सन् १९५८

प्रथम आवृत्ति ३०००

रु. १.२५

नवम्बर, १९५८

चि० सरोजको
जिसके प्रोत्साहनसे
यह लेखमाला लिखी गअी

प्राथमिक फिर भी मौलिक

शास्त्रोंके नियमोंका और शास्त्रचर्चाका ज्ञान प्राप्त करके और सन्तोंकी वाणी सुनकर हम धर्मके सम्बन्धमें अपने अमुक विचार दृढ़ करते हैं। तदुपरांत जीवनमें जैसे जैसे नये अनुभव होते जाते हैं वैसे वैसे अिस शास्त्रधर्म पर हमारी श्रद्धा शिथिल या दृढ़ होती जाती है। अिसलिअे हम कह सकते हैं कि श्रद्धा और अनुभव हमारी धर्म-भावनाके आधार हैं।

परन्तु शास्त्रोंका परिचय होनेके पहले और अुसके बाद भी शास्त्रोंके आधार पर नहीं, बल्कि जीवनके स्वतंत्र अनुभवके परिणाम-स्वरूप केवल कौटुम्बिक वातावरण और सामाजिक रिवाजोंसे धर्मके संबंधमें जो स्वतंत्र वृत्तियां, मान्यताअें, भावनाअें और सिद्धान्त बंधते हैं अुनका स्वतंत्र वर्णन किया जाये तो कैसा? अैसे विचारका मनमें अुठना अिस लेखमालाके आरम्भका कारण बना। अिसमें जो विचार व्यक्त किये गये हैं वे अनेक लोगोंके मनमें अुठे होंगे। संतोंके वचनों और शास्त्रोंकी मीमांसामें भी ये प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु जहां तक मेरा सम्बन्ध है, ये मेरे मौलिक अनुभव हैं, फिर भले ही ये बिलकुल प्राथमिक स्वरूपके क्यों न हों।

यह लेखमाला मैंने जिस संकल्पसे शुरू की थी, वह आगे चलकर शिथिल हो गया। अिसलिअे बादके लेखोंकी सारी शैली ही बदल कर अैसे अनुभवोंको संक्षेपमें लिखना शुरू किया और अुन्हें कुछ हद तक सिद्धान्त-चर्चाका रूप दे दिया। फलतः लेखमालामें आद्यन्त अेक धारा-प्रवाह नहीं रहा। यह लेखमाला सामान्य जिज्ञासुके लिअे भी है और मौलिक चिन्तन करनेवाले धर्म-परायण व्यक्तियोंके लिअे भी है। अिसलिअे जैसी है वैसी ही मेरे मित्र श्री अुमाशंकर जोशीके 'संस्कृति' नामक गुजराती मासिक पत्रमें प्रकाशनार्थ दे दी थी।

लेखमाला जिस अुद्देश्यसे लिखी गयी थी अुसे जानकर पंडित सुख-लालजीने अिस पर अपना अनुकूल अभिप्राय दिया और धर्म-चिन्तककी रसिकतासे अिसका स्वागत किया, यह मेरे लिअे संतोषकी बात है। अिसीलिअे जिस रूपमें यह है अुसी रूपमें अिसे प्रकाशित करनेका मैंने साहस किया।

जब यह लेखमाला गुजरातीमें शाया हुअी, तब जिन्हें यह प्रिय लगी अुन्होंने अिसका मराठी अनुवाद करके मासिकोंमें प्रकाशित किया। अब नवजीवन प्रकाशन मंदिरने श्री सीताचरणजी दीक्षितकी सहायतासे अुसी मालाको हिन्दी रूप दिया है। आशा करता हूं हिन्दी जगतमें चन्द लोगोंको यह रोचक लगेगी।

सच बात तो यह है कि धर्म-चिन्तनके फल-स्वरूप जो विचार अन्ततः निष्पन्न हुअे और जो अनुभवसे गढ़े गये, अुनका भी संग्रह अिसके अुत्तरार्धके रूपमें मुझे दे देना चाहिये; परन्तु यह कब होगा और होगा भी या नहीं, सो मैं नहीं जानता।

आत्म-परीक्षणका अुत्साह रखनेवाले थोड़े-से पाठकोंको भी यदि अिस लेखमालासे सहायता मिले तो मुझे संतोष होगा।

नअी दिल्ली,
दीपावली, १०–११–'५८

काका कालेलकर

अनुक्रमणिका

प्राथमिक फिर भी मौलिक ५

प्रास्ताविक ३

१. धन्य संकल्प ७

२. पाप और पुण्य १०

३. माता-पिता १३

४. माताजीका धर्म १६

५. पिताजीकी साधना १९

६. मांका सिखाया कुटुम्ब-धर्म २३

७. पश्चात्तापका साक्षात्कार २७

८. कुलदेवकी निष्ठा ३०

९. गरीका टुकड़ा ३२

१०. वह कंठी ३५

११. जतका शिक्षक ३९

१२. बालपनके देव — १ ४१

१३. बालपनके देव — २ ४५

१४. गद्य प्रार्थना ही हृद्य प्रार्थना ४८

१५. आरती ५०

१६. श्राद्ध ५३

१७. जीवदया ५७

१८. दूरवालोंके प्रति आत्मीयता ६०

१९. अुपनयन ६५

२०. नअी संध्या ६९

२१. अीशकृपा ही केवलम् ७३

२२. धर्मवृत्ति विकसित करनेके क्षेत्र ७६

२३. ऋतुपतिसे प्रार्थना ७८
२४. गुरुजनोंकी कमियां ७८
२५. अेक व्रत ८१
२६. सत्यका स्वरूप और अुसकी अुपासना ८४
२७. जिज्ञासा-युग ८९
२८. अेक निश्चय तो हुआ ९१
२९. जीवन-परंपरा — १ ९३
३०. जीवन-परंपरा — २ ९७
३१. प्रेम अंधा है? १०५
३२. मूर्तियोंका ध्यान १०९
३३. मानस-पूजा और आगे आगे १११
३४. सत्यनिष्ठामें शिथिलता १२०
३५. हमारा ध्यानमंत्र : सत्यमेव जयते १२६
३६. धर्मान्तिर १२७
३७. परमधर्म — आत्मदर्शन १३३–१३५

धर्मोदय

प्रास्ताविक

मनुष्य अपनी धर्म-विषयक कल्पनाअें सबसे पहले वृद्धोंसे, कौटुम्बिक रीति-रिवाजोंसे और सामाजिक संस्थाओंसे प्राप्त करता है। पहले-पहल तो ये सब बातें समझनेकी नहीं किन्तु सिर्फ ओढ़ लेनेकी होती हैं। मनुष्य जन्म लेता है, सो माताके साथ सम्बन्ध बांध कर ही। माताके द्वारा वह पिताको पहचानता है। अिन दोनोंके द्वारा पहले कुटुम्बमें और फिर समाजमें अुसकी जड़ें जमती हैं और पक्की होती हैं।

अिस तरह माता-पिता, कुटुम्ब और समाजसे वह जो-कुछ लेता है अुसे आत्मसात् करनेमें अुसको बहुत समय या परिश्रम नहीं लगाना पड़ता, क्योंकि अुसका शरीर, अुसका आहार, अुसकी भाषा, अुसकी भावनाअें और अुसकी शिक्षा-दीक्षा — संक्षेपमें, अुसका सारा जीवन और गढ़न माता-पिता, कुटुम्ब और समाजके साथ अेकरूप होता है। अिसलिअे अुनके द्वारा वह जो-कोअी धार्मिक वस्तु लेता है, अपनाता है और सेवन करता है, अुसे आत्मसात् (assimilate) करनेमें अुसे विलम्ब नहीं लगता। जैसे मनुष्यकी हथेलीकी भाग्य-रेखाअें माताके गर्भमें मुट्ठी बंद किये पड़े रहनेके वक्त ही बन जाती हैं, अुसी तरह मनुष्यका सामान्य व्यक्तित्व भी अुसे अूपर कहे अनुसार मिला हुआ होता है।

बादमें आगे बढ़ते-बढ़ते कौन जाने किस तरीकेसे और किस क्रमसे वह अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व विकसित करता जाता है। और अिस प्रकार प्राप्त किये हुअे, विकसित किये हुअे और पचाये हुअे तत्त्वोंके अुपरांत वह अलग और बिलकुल स्वतंत्र तत्त्वोंको विकसित करता है और अुन्हें ही अपने जीवनमें सर्वोपरि स्थान देता है।

जिस प्रकार कन्या माता-पिताके हाथों पल-पुस कर बड़ी होने पर भी अेक क्षणमें अुस सम्बन्धका त्याग करके सारे जीवनके लिअे अपने पतिके साथ बंध जाती है, अथवा जिस प्रकार कोअी व्यक्ति अपने सारे संस्कार अेक

ओर छोड़ कर अपने दीक्षा-गुरुके संस्कारोंको अपना लेता है, अथवा जिस प्रकार धर्मान्तर करनेवाला व्यक्ति अेक समाजकी पूरी दुनियामें से निकल कर दूसरे समाजकी अलग दुनियामें प्रवेश करता है और पूर्णतः अुसका ही निवासी बन जाता है, अुसी प्रकार जब व्यक्तिका स्वतंत्र व्यक्तित्व खिलता है तब बचपनके प्राप्त किये हुअे, आत्मसात् किये हुअे और अमुक अंशोंमें विकसित किये हुअे तत्त्व भी गौण हो जाते हैं और वह व्यक्ति अपने आपको पहचानता हुआ अपने अपनेपनका ही विकास करता है।

यही अुसका सच्चा जन्म है। यही अुसके व्यक्तित्वकी नींव है।

अिस प्रकार सच्चा जन्म हो जानेके बाद अुसे जो मौलिक धर्मानुभव होते हैं अुनका असर अुसके पूर्ववयके धारण किये हुअे तत्त्वों पर होता है। साथ साथ वे पुराने तत्त्व भी नये तत्त्वों पर असर करते हैं। और दोनोंके ओतप्रोत हो जानेसे व्यक्तिकी विभूतिका ताना-बाना बुना जाता है।

अिस बुनाअीके अमुक हद तक चलनेके बाद, या अुसके पहले भी, मनुष्यके जीवनमें शास्त्र प्रवेश करते हैं। सच पूछा जाये तो व्यक्तिके धर्मानुभवोंके और अुसकी धार्मिक कल्पनाओंके समाजमें फैल जाने पर अुन्हें स्थिर रूप देनेके लिअे ही शास्त्रोंकी रचना होती है। परन्तु शास्त्र-रचयिता दुनियाके सामने दावा करते हैं और बादमें खुद भी मानने लगते हैं कि अुनकी यह प्रेरणा और अुनका सारा ज्ञान, अुन्हें किसी श्रेष्ठ और अलौकिक सत्तासे मिला है। अिसलिअे अैसा आग्रह अुत्पन्न हो जाता है कि अिन शास्त्रोंके बाहर जाया ही नहीं जा सकता।

जिसे अुत्तम नृत्य सीखना होता है वह आरंभमें अपने पैरोंमें भारी कड़े पहनता है, जिससे पैर गलत पड़ें ही नहीं; परन्तु यदि कड़े अितने भारी हो जायें कि नाचनेके लिअे पैर अुठें ही नहीं तो वे किस कामके? शास्त्रग्रंथ अिन कड़ोंके समान ही हैं। अुनकी आज्ञा मनुष्य-जीवनको — व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवनको — स्थिर करती है, अनेक भूलोंसे बचाती है, छिछलापन टालती है और वर्तमान कालको भूतकालके साथ जोड़ देती है। परन्तु यदि ये शास्त्र मनुष्यके पुरुषार्थका ही हनन करें, विकासको रोकें तो वे बेड़ी-रूप हो जाते हैं। जिस तरह मुर्दा स्वयं मरा होनेके कारण सड़कर दूसरेको मृत्युकी ओर ले जाता है, अुसी तरह

बेड़ियां भी स्वयं जड़ होनेके कारण दूसरेको जड़ बना देती हैं। बेड़ियां जैसे आखिरमें तोड़ी जानेके लिअे ही होती हैं वैसे ही जड़ और काल-ग्रस्त रूढ़ियां भी तोड़ी जानेके लिअे ही होती हैं। निष्प्राण शरीर जिस तरह रखा नहीं जा सकता, अुसी तरह अर्थविहीन रूढ़ियां भी टिकायी नहीं जा सकतीं।

रूढ़ि-परायणता अमुक हद तक स्वाभाविक है, आवश्यक है। लेकिन प्रयोजन पूरा हो जानेके बाद रूढ़िके विरुद्ध बलवा खड़ा होता ही है। यह बलवाअी वृत्ति भी आवश्यक है, स्वाभाविक है, अच्छी है। परन्तु बलवाअी वृत्ति अपने आप ही कृतार्थ नहीं हो सकती। बलवा करके पुरानेको तोड़ डालनेके बाद जो खालीपन अुत्पन्न होता है वह पुरानी सड़नसे कम भयानक नहीं होता। बहुतसे बलवाखोर बलवेके बाद खालीपन भर देनेके लिअे कुछ नयी, ठोस, जीवित और विकासमान वस्तु न दे सकनेके कारण ही परास्त हुअे हैं। मानवके जीवनकी सच्ची सार्थकता अुसकी सिसृक्षा — सर्जन करनेकी अिच्छा — में निहित है। मनुष्य समयानुकूल नया-नया रचे, निर्माण करे, चलाये और विकसाये, तभी अुसमें अैश्वर्य आता है। और अिसी राह चलकर वह अमर बनता है।

मैंने अपने जीवनमें अिन सभी बाजुओंका बहुत जल्दी अनुभव कर लिया था। अिन सबका प्रामाणिक बयान यदि मैं अपने पीछे छोड़ जाअूं तो वह अवश्य अुपयोगी होगा। परन्तु वैसा करनेसे अेक बड़ा भारी आत्म-चरित ही बन बैठेगा। अभी तो भिन्न भिन्न मौलिक धर्मानुभवोंका अुदय कैसे होता गया, अिसके संस्मरण ही जीवन-क्रमसे मुझे अंकित करने हैं।

अिसका प्रारंभ मैंने 'हरिजनबन्धु' में किया था। तीन-चार लेख लिखे होंगे। परन्तु 'हरिजनबन्धु' में अिनका स्थान अुपयुक्त न समझ कर यह लेखमाला मैंने बंद कर दी थी। फिर भी यह संकल्प नहीं छोड़ा था, अिसलिअे यह माला आगे चलानेका विचार है। लेकिन अिस वक्त भी अिसे पूर्ण करनेका संकल्प नहीं किया है और पूर्ण करनेकी आशा भी नहीं है।

* * *

धार्मिक अनुभव मैं लिखने तो बैठा हूं, परन्तु धार्मिक अनुभवका अर्थ क्या है? आजकलके बहुतसे लोग मानते हैं कि धर्मका अर्थ है अीश्वर-विषयक

अनुभव अथवा अतीन्द्रिय अन्तरात्मा विषयक गूढ़ अनुभव। पुराने जमानेके बहुतसे लोग और आजके भी बहुतसे पिछड़े हुअे लोग धर्मानुभवके सम्बन्धमें कितने ही विचित्र खयाल रखते दिखाअी देते हैं। कोअी अप्राकृतिक घटना घटे — अुदाहरणार्थ, पत्थर पानी पर तैरे, जानवर मनुष्यकी वाणी बोले, अचानक मरा हुआ मनुष्य जीवित हो जाये, अनपेक्षित मदद मिले, गैबी आवाज सुनाअी दे, बिना कारणके प्रकाश दिखलाअी पड़े, सुगंधका अनुभव हो — तो यही धर्मानुभव है, अैसी अुनकी मान्यता मालूम होती है। अैसे 'चमत्कार' अथवा 'साक्षात्कारके' द्वारा भी धर्मका अनुभव हो सकता है। परन्तु सामान्य रूपसे कुदरतमें जो न मिलता हो अुसके मिलनेसे अुसमें 'धर्म' प्रकट होता ही है अथवा वह मनुष्यकी प्रगतिका निश्चित द्योतक है, अैसा मानना भूल है।

जिस अनुभवके द्वारा आत्माका विकास होता है, व्यक्तित्व बढ़ता है, अतीन्द्रिय वस्तुओं पर अुचित श्रद्धा बैठती है और मनुष्य अिन्द्रिय-सुखकी लालसा छोड़ कर, देहका मोह छोड़ कर अूंचे चढ़ता है, वह धर्मानुभव है। अुत्कट प्रेम, निरपेक्ष सेवाभाव, सत्य और ज्ञानकी अदम्य खोज, शीतल वृत्तिसे अथवा प्रसन्नतासे किया जानेवाला बलिदान, सब भूतोंके प्रति सिद्ध हुआ समभाव — ये सब यथार्थमें धर्मानुभव ही हैं।

मनुष्य पूर्ण रूपमें जीवन जिये तो अुसे स्वाभाविक रूपसे ही अैसे अनुभव होते जाते हैं। परन्तु धर्मानुभवका असर जीवन पर चमत्कारी और गहरा होता है; अिसलिअे मनुष्य विशिष्ट साधना द्वारा — श्रवण, मनन और ध्यान द्वारा — अिन अनुभवोंको शीघ्र प्राप्त करने, व्यवस्थित करने और गहरे बनानेका प्रयत्न करता है। धर्मानुभवकी अिस साधनाकी सफलताको भी धर्मानुभवके रूपमें ही पहचाना जाता है।

कुछ लोगोंको अमुक धर्मानुभव होते हुअे भी वे पहचान नहीं सकते कि यह धर्मानुभव है; और अिसके अुलटे कुछ लोग जरा-सा भी कोअी असाधारण अनुभव हुआ तो अुसे दैवी साक्षात्कार मान बैठते हैं।

मुझे अपने अनुभवोंके अुदाहरणों द्वारा धर्मानुभव विषयक कल्पना भी स्पष्ट करनी है। अुत्तम बात तो यह होती कि मुझे धर्मानुभव कैसे होता गया, अिसका विकास मैं क्रमशः बता दूं। परन्तु जिस प्रकार

'स्मरण-यात्रा' में पूर्ण आत्म-चरित्र न देकर मैंने चुने हुअे अमुक प्रसंग ही दिये हैं, अुसी प्रकार यहां भी करनेवाला हूं।

२८-११-'३९

१

धन्य संकल्प

हम सतारामें थे। अेक दिन अेक मौनी साधु हमारे पीछेके द्वार पर आया। पिताजी बाहर निकले। अुन्होंने साधुसे पूछा — "क्या चाहिये?" अुसने कोअी अुत्तर दिये बिना ही पिताजीको संकेत किया कि नीचे बैठो। पिताजी बैठ गये तो साधुने पानीसे भरा हुआ अेक सुन्दर बरतन हाथमें लेकर पिताजीके माथे पर लगाया और अपनी मूक भाषामें वह कुछ आशीर्वचन भी बोला। बादमें अुसने अेक बोतल निकाली, जिसमें पानी था, और थोड़ा-सा पानी लेकर पिताजीके माथे पर छिड़का। पिताजीने मुझे खींच कर अपनी गोदमें बैठा लिया, अिसलिअे साधुने मेरे माथे पर भी चार किनछे डाले। पिताजीके मुख पर धन्यताका भाव छा गया। अुन्होंने गांठसे थोड़े पैसे निकालकर साधुको भेंट कर दिये। साधुने जलका ठंडा बरतन मेरे माथे पर भी छुआया। पिताजीने मुझसे कहा—"नमस्कार करो।" मैंने नमस्कार किया और फिर पूछा, "यह काहेका पानी है?" पिताजीने अुत्तर दिया, "यह पवित्र गंगाजल है। ये साधु लोग महीनों पैदल चलकर काशी जाते हैं और वहांसे गंगाजल भरकर* वापस चलते-चलते ही यहां ले आते हैं।"

---

* पिताजीको मालूम नहीं था कि गंगाजल काशीसे नहीं प्रयागसे लाया जाता है। गंगा-यमुनाका संगम जहां होता है अुसके पहलेका ही गंगाजल लिया जाता है। कहा जाता है कि संगमके बादके जलमें जीव पैदा हो सकते हैं। अिसी प्राचीन मान्यताके आधार पर आजके लोग कहते हैं कि गंगा नदीके पानीमें रोगोंके कीटाणु (बैक्टेरिया) नहीं होते। यह कहां तक सच है, कौन जाने।

उस दिनसे मैं सबसे गंगा और गंगाजलके विषयमें पूछता रहता था। साधुकी की हुअी क्रिया और पिताजीके चेहरे पर व्यक्त प्रसन्न-गंभीर भावना — दोनोंका मेरे मन पर भारी असर हुआ। मैंने सुना कि जिस वर्ष मेरा जन्म हुआ था अुस वर्ष मेरे नाना मेरी बुआको लेकर काशीयात्राके लिअे गये थे। वे भी पीतल और तांबेके बने हुअे अेक बड़े बरतनमें गंगाजल लाये थे।

गंगा आकाशसे महादेवकी जटाओंमें अुतरी, वहांसे हिमालय पर प्रकट हुअी और हरद्वार, प्रयाग, काशी आदि स्थानोंको पावन करती हुअी समुद्रमें जाकर मिली। अिस पृथ्वी पर गंगाके आनेसे मनुष्यको अपने अुद्धारका साधन मिल गया।

ये सब बातें जैसे-जैसे सुनता जाता था, वैसे-वैसे गंगाके प्रति मेरी भक्ति बढ़ती जाती थी। मैंने विचार किया कि किसी न किसी दिन अवश्य काशी जाअूंगा और छककर गंगाका पानी पिअूंगा। बादमें मेरा स्वर्ग जानेका मार्ग खुल जायेगा। मैंने अपना संकल्प आजीके सामने जाहिर किया। आजीने प्रसन्न होकर कहा — "धन्य है तेरा संकल्प!"

यदि कोअी अितना संकल्प ही कर लेता है कि 'मैं काशी जाअूंगा' तो अुतनेसे ही अुसे पुण्य मिलता है — 'काशीस जावें, नित्य वदावें।' (काशी जाना है अैसा नित्य कहना चाहिये)।

आजीने मेरी प्रशंसा की, अिससे मैं अपनी सात्त्विकता पर न्योछावर होने लगा। मुझे अभिमान हुआ कि मैं कितना सात्त्विक, कितना पुण्यवान हूं! अुस समय सात्त्विक और पुण्यवान मेरे लिअे केवल शब्द ही थे। मैं केवल अितना ही समझता था कि अिन शब्दोंका कुछ अच्छा अर्थ होता है। आजीने कहा — "सभी लोग काशीयात्राके लिअे नहीं जा सकते। अिसलिअे जब मनुष्य मरने लगता है तब पूजामें रखे हुअे गंगाजलमें से चार बूंद निकालकर अुसके मुंहमें डाल दिये जाते हैं। गंगाजलकी अेक बूंद भी मनुष्यके गलेमें पहुंच जाने पर यमराजके दूत अुसे छू नहीं सकते। बादमें तो महादेवके दूत स्वयं आकर अुसे कैलास ले जाते हैं। शरीर पर भस्म लगाये हुअे शिवदूतोंको देखते ही यमराजके दूत भाग जाते हैं।"

अैसी-अैसी बातें सुनकर काशी और गंगाके प्रति तथा हिमालयके प्रति भी मनमें भक्ति जम गयी। वह अनेक रूपोंमें मनमें बदलते हुअे भी आज तक हृदयमें स्थिर है। धार्मिक भारतके हृदयका केन्द्र काशी ही है और अुसके धार्मिक जीवनके प्रवाहकी प्रतीक गंगामैया है। नदियों संबंधी कृतज्ञताका अिस प्रकार धर्मके साथ जोड़ दिया जाना सचमुच अभिनन्दनीय है।

आजीने यह भी कहा कि काशीयात्रा करके लौटे हुअे पुण्यवान लोगोंके चरण-स्पर्श करनेसे भी हम पावन हो जाते हैं।

यह सुननेके बाद जब जब मैं सुनता कि अमुक भाअी या बहन काशीयात्रा कर आयी है तब तब अुसकी ओर मैं अेक नयी दृष्टिसे ही देखता था — 'कितने धन्य हैं ये लोग!' संकोचके कारण अुनका चरण-स्पर्श तो मैं नहीं करता था; परन्तु मुझसे ये लोग श्रेष्ठ हैं, मैं अधन्य हूं, ये लोग धन्य हैं, अिस भावनाका मनमें सेवन किया करता था।

मुझे यह भी कह देना चाहिये कि काशी हो आनेके कारण जिन्हें मेरा मन पूज्य मानता था अुनमें जब मैं संकीर्ण व्यवहारीपन अथवा हीनता देखता तो मेरा मन खिन्न होकर कहता, "ये लोग कैसे भूल जाते हैं कि हम काशी हो आये हैं? हम गंगाका स्नान-पान कर चुके हैं?" मैं मनमें कहता कि "मैं काशी हो आअूंगा तो अिन लोगोंके समान कभी नहीं बनूंगा।"

आज अिस विचारका स्मरण होने पर मुझे कितनी शर्म आती होगी?

२

पाप और पुण्य

सताराकी ही बात है। संध्याका समय था। घरके हम सब बालक सीताफलके पेड़के नीचे ब्यालू करने बैठे थे। मेरे बड़े भाओंको शालासे वापस आते ही कुछ-न-कुछ खानेको मिलना ही चाहिये। मैं शाला जाने योग्य बड़ा नहीं था। परन्तु सारे दिन कूदफांद करनेके बाद मुझे भी अिस समय भूख लग आती थी, अिसलिअे हम सब दूधकी 'दशमी' (दूधसे सने आटेकी रोटी), घी और अचार लेकर खाने बैठते थे। सीताफलके पेड़के आसपास आंगनको लीपकर साफ रखा जाता था, अिसलिअे नाश्ता-मंडली वहां प्रसन्नतासे बैठती थी।

सीताफलके पेड़के पास गूलरका पुराना पेड़ था। अुसने न जाने कितनी गर्मियां और सर्दियां झेली थीं। अुसकी छालमें दरारें पड़ गयी थीं और सारी पींड़की छाल पपड़ी जैसी बन गअी थी। गोंदू बैठा बैठा नखोंसे पपड़ी अुचेड़ रहा था। काशी भाभीने अुसे रोका और कहा—"अैसा करनेसे पाप लगता है।" गोकुल बहनने कहा—"नहीं, पपड़ी अुचेड़ देनेसे पुण्य होता है।" बादमें अिस पर चर्चा चल गयी। मेरे लिअे दोनों शब्द नये थे। मैंने पूछा—"दोनोंमें कौन अच्छा है? पाप अच्छा है या पुण्य?" मंडलीमें कोअी प्रौढ़ व्यक्ति नहीं था। अिसलिअे सभी चक्करमें पड़ गये। मैंने पूछा—"परन्तु गोकुल बहन, पाप लगता है या पुण्य होता है यह आप कैसे जान सकती हैं?" अुन्होंने कहा—"हमारे शरीरमें खाज हो जाये और हम चमड़ीके अूपरकी पपड़ी निकाल डालें तो कितना सुख मिलता है! अिस पेड़को भी अैसा ही होता है। किसीका भला करनेसे, किसीको सुख देनेसे हमें पुण्य मिलता है। किसीको सतानेसे पाप लगता है।" काशी भाभीने कहा—"बात बिलकुल सच है। परन्तु पपड़ी अुखाड़नेसे अिस पेड़को दुःख होता है। पपड़ी अच्छी तरह सूख जाने पर अपने-आप गिर जाती है। हाथसे कच्ची पपड़ी अुखाड़ लेने पर पेड़को कष्ट हुअे बिना नहीं रह सकता।"

पेड़को सुख-दुःख होता है या नहीं, यह प्रश्न किसीने नहीं उठाया। पेड़ जीवित है, अिसलिअे अुसे सुख-दुःख होना ही चाहिये, यह मान्यता हममें पहलेसे ही थी। यह किस प्रकार आयी, मैं कह नहीं सकता।

बादमें तो पेड़को पानी देनेसे पुण्य होता है या नहीं, पेड़की पत्तियां तोड़नेसे क्या होता है, फूल तो पूजाके लिअे रोज तोड़े जाते हैं अिसका क्या, अिसमें पाप होता तो पूजाके लिअे फूल काममें न लाये जाते आदि प्रश्नोंकी चर्चा हुअी। जहां तक मुझे याद है अुस समय मुझे देवपूजाका कोअी भान नहीं था। पिताजी जब स्नान करके देवपूजाके लिअे बैठते थे अुस समय किसीको छूने नहीं देते थे। मैं नंगा होकर जाअूं तो मेरे छूनेमें कोअी आपत्ति नहीं थी, अितना ही अुस समय मेरा पूजाका ज्ञान था। अिसलिअे मेरे मनमें अैसा कुछ खयाल बना था कि मनुष्यका नग्न शरीर पवित्र है, छूतछात कपड़ोंमें ही है। रेशमी कपड़ा, अूनी कपड़ा, सनका रंगीन कपड़ा और धोकर सुखाया हुआ तथा किसीके द्वारा छुआ न गया कपड़ा पूजामें काम आता है यह भान भी मुझे था। रसोअीमें तो हम बच्चोंको कोअी घुसने ही नहीं देता था। ये सब बातें विधि-निषेधकी थीं। अमुक काम करना चाहिये, अमुक नहीं करना चाहिये, अिस संबंधमें 'क्यों' का प्रश्न अुठता ही नहीं था। परन्तु पेड़की पपड़ी अुखाड़नेमें तो यह प्रश्न था कि पेड़को यह अच्छा लगता है या नहीं, अिससे अुसे लाभ है अथवा हानि? अिसके आधार पर पाप-पुण्यका निर्णय होना था। मेरे बाल-मानसको अिस बातकी विशेषता महसूस न हुअी होती तो यह प्रसंग स्मृतिमें अिस प्रकार जमा न रहता।

अिसके बाद मैंने यह जाना कि गायको सहलानेमें या अुसके दोनों सींगोंके बीचके भागको खुजानेमें पुण्य होता है। गाय अपने खुरोंकी मददसे अपने शरीरके किसी भी भाग तक पहुंच सकती है, परन्तु अुसके सींगोंके बीचका भाग जैसाका तैसा रह जाता है। वहां गाय हमारी सहायताकी आशा रखती है। अिसलिअे जब मैंने यह जाना कि अुस भागको खुजानेमें अधिक पुण्य होता है तो मुझे बहुत आनन्द हुआ। घरकी गाय बड़ी सीधी थी, अिसलिअे यह पुण्य मैं सहज ही प्राप्त कर सकता था।

अिसके बाद तो पुण्य और पापके विवरण और अुनके प्रसंगोंकी वृद्धि होने लगी। चिड़ियोंके लिअे खपरोंमें पानी भर रखना और वे घोंसले बनायें अुस समय रुअी जहां-तहां फेंक देना, जिससे वे फुदक-फुदक कर अुसे ले जायें — आदि धंधे बढ़ने लगे।

रातको घरमें दीये जलते थे। मिट्टीका तेल अुन दिनों हमारे घरमें नहीं पहुंचा था। रातको मकोड़े दीयेके आसपास प्रदक्षिणा करते थे। पहले झाड़ू लेकर मैं अिन मकोड़ोंको हटा देता था, परन्तु पाप-पुण्यका विवेक जागनेके बाद अुन्हें परेशान करना मैंने छोड़ दिया। मकोड़ोंमें अेक-आध बहुत बड़ा होता और वह अुलटा घूमता था। मुझे लगता कि यह तो राक्षस है, यह सीधा नहीं घूमता। अिसलिअे अुसे पकड़ कर मैं दूर फेंक देता था। अेक दिन अैसे ही अेक मकोड़ेको पकड़ा तो अुसने मुझे अपने चिमटे जैसे दातोंसे अैसा काटा कि खून निकल आया। परन्तु यह बात तो मैंने यों ही कह दी।

धार्मिक मान्यताओंमें छुआछूतका विवेक अेक अजीब वस्तु है। अिसमें मनुष्यकी मति नहीं चलती। पाप-पुण्यका विवेक भिन्न बात है, जिसमें सजीव सृष्टिके सुख-दुःखका, भले-बुरेका प्रश्न होता है। यह भेद मेरे दिमागमें बैठ गया। ठेठ बालपनमें छुआछूत और जूठे-अनूठे आदिका भेद हमारे लिअे नहीं था। अिसलिअे मैं तो पाप-पुण्यका ही विचार पग-पग पर करता रहा। पानीमें कीड़ा गिर जाये तो अुसे बचाने, नालीमें कोअी मक्खी डूबती हो तो अुसे तिनकेकी मददसे बाहर निकालने आदिकी ओर ध्यान जाने लगा। और यह अितना बढ़ा कि जहां-तहां दृष्टि अैसी ही चीजोंको खोजने लगी। पहले-पहले तो पुण्य बढ़नेका आनन्द मिलता था; परन्तु आगे चलकर यह अकुलाहट शुरू हो गयी कि सारे दिन और कुछ कर ही नहीं सकता। और दुःखियोंके पीछे दौड़नेका धर्म अड़चनसे भरा मालूम होने लगा। दौड़ने-कूदनेकी स्वाभाविकता कुछ कम हो गयी। मनमें विचार आने लगा कि दुःखी जीवों पर नजर न पड़े तो कितना अच्छा हो! मैं नजर बचानेका प्रयत्न करता। परन्तु वह तो कष्ट-पीड़ितोंकी ओर अचूक चली जाती। मनमें यह भी आता कि दुखियाका दुःख दूर करना जो मैं टालता हूं वह अच्छा नहीं है। स्वाभाविकता नष्ट हो

जानेसे मैं अस्वस्थ रहता और बार-बार मनमें पाप-पुण्यका विचार करता रहता। यह अकुलाहट कब और कैसे निकली और मैं कैसे स्वस्थ हुआ, अब याद नहीं है। परन्तु अुस दिनसे मैंने जो यह जाना कि पाप-पुण्य जीवनके साथ जुड़ा हुआ है, वह आज तक मनमें चिपटा हुआ है। आज जब मैं स्मरणशक्ति पर जोर देता हूं तो अैसा लगता है कि मेरा धर्मका सबसे पहला अनुभव यही है।

३

माता-पिता

धर्मके अैसे अनुभव बालपनसे किस कालक्रममें और किस रीतिसे विकसित होते गये, यही मुझे यहां बताना है। जीवनके अुषःकालमें फिरसे डुबकियां लगाने पर अैसा लगा कि प्रथम भान पाप-पुण्यका ही हुआ था। अिसलिअे अुससे ही अिस मालाका आरम्भ किया। क्रममें दूसरा स्थान निश्चित करनेमें कुछ कठिनाअी हुअी है। पाप-पुण्यके खयालके बाद जिस भावके अुदित होनेका स्पष्ट भान है वह है माता-पित्ताके प्रति भक्तिका। परन्तु मन्दिरोंमें जाकर मूर्तियोंकी पूजा देखना भी अिसी समयमें हुआ था, अिसलिअे अैसा लगा कि शायद मुझे अिसको दूसरा स्थान देना चाहिये। आज, जब मैं यह लिख रहा हूं, गणेश-चतुर्थी है, और बालपनमें जब मैं मां अथवा दादीके साथ मन्दिरमें जाता था तब हनुमान और गणपतिके ही मन्दिरमें जाता था; अिसलिअे आज भगवद्-दर्शन और मूर्तिपूजाकी प्राथमिक कल्पनाके विषययें ही लिखनेका मोह हो आया था। परन्तु बाल-मानसके धुंधले स्मृतिचित्रोंको जांचनेसे अैसा लगता है कि अीश्वर-भक्तिके पहले माता-पिताकी भक्ति ही मेरे मनमें जाग्रत हुअी थी।

मुझे लगता है कि मनुष्यके लिअे श्वास लेना, खाना-पीना और सोना जितना स्वाभाविक है, अुतना ही बालकोंके लिअे माता-पिताके प्रति आकर्षण होना भी स्वाभाविक है। अुसमें भी माताके प्रति तो आकर्षण

लेकर ही बालक जन्म लेता है। मेरे सम्बन्धमें पिताके प्रति आकर्षण भी जन्मसे ही स्वाभाविक हो गया था। अिसका अेक विशेष कारण था। मुझसे थोड़ा बड़ा मेरा भाअी गोंदू बचपनमें बहुत ही बीमार रहा करता था। अुसके डेढ़ वर्ष बाद मेरा जन्म हुआ था, अिसलिअे मेरे माता-पिताने कुछ अैसी व्यवस्था कर रखी थी कि माताजी तो गोंदूको संभालें और पिताजी मेरी देखभाल करें। मुझे नहलाने, खिलाने, सुलाने आदिका सारा काम पिताजी करते थे। रात्रिको मुझे लघुशंका करने जाना होता तो पिताजी ही अुठाकर आंगनमें ले जाते थे। मुझे आश्चर्य होता था कि अंधेरेमें अुन्हें रास्ता कैसे दिखलाअी पड़ता होगा। अिस आश्चर्यसे मनमें यह निश्चय हो गया कि पिताजीकी शक्ति कुछ अजीब है। वे सब-कुछ जानते हैं, सब-कुछ कर सकते हैं और हरअेक बीमारीकी दवा तो अुनके पास रहती ही है। जो फोटो भी निकाल सकते हों अुनकी शक्तिका माप कैसे निकाला जाये? अिस प्रकार पिताजीके प्रति मेरा प्रेम और आदर जन्मसे ही था।

माताके प्रति प्रेमकी अुमड़ अितनी अधिक थी कि अुसमें आदर जैसी कोअी वस्तु घुस ही नहीं सकती थी। मुझे अपना शरीर जितना प्रिय लगता था, माता भी अुतनी ही प्रिय लगती थी। माताके प्रति आदर जैसी वस्तु तो नहीं थी, किन्तु सद्भाव सोलह आने था। माता जो कहें वही सत्य। वे जो भावना हृदयमें भरतीं वह तुरन्त वहां जम जाती। मांने कहा कि पाण्डव अच्छे थे, कौरव खराब थे, तो सोलह आने सही! — कैसे, यह प्रश्न अुठता ही नहीं था। पांडव अच्छे होने ही चाहिये। भावनाओंका बीजारोपण अिस प्रकार होता है, और मैं मानता हूं कि अिसी प्रकार होना भी चाहिये। 'क्यों' और 'कैसे' का पृथक्करण बादमें आये यही ठीक है।

माता-पिताके प्रति यह स्वाभाविक प्रेम भक्तिके रूपमें परिणत कैसे हुआ, यह कहना कठिन है। कुछ अैसा खयाल आता है कि आसपासके सगे-सम्बन्धियों और शालाके शिक्षकोंकी सीखसे और सुनी हुअी या याद की हुअी कविताओंसे अिस भक्तिका स्पष्ट रूप बंधा था। अुनकी दलीलें वही होती थीं, जो लोग हमेशा दिया करते हैं — मां-बापने जन्म दिया

है, हमारे बचपनमें अुन्होंने हमारे लिअे कष्ट अुठाये हैं, आदि। मां-बापने जन्म दिया है यह अुपकार है, अैसा तो बालपनमें भी लगा नहीं था। यह दलील दिमागमें घुसती ही नहीं थी। अिसलिअे अिस पर विचार करनेकी कोअी बात ही नहीं रहती। 'वे हमारे लिअे कष्ट भोगते हैं'—यह दलील भी बचपनके लिअे बहुत बड़ी थी। किसीके कष्टके प्रति अुपकारकी बुद्धि तो स्वावलम्बनकी शक्ति जाग्रत होनेके बाद ही विकसित हो सकती है। जहां सारा जीवन ही मां-बाप पर अवलम्बित हो वहां अुपकारका खयाल कैसे आ सकता है? अिसलिअे मां-बापके अुपकार-वाली दलील भी हवामें अुड़ जाती थी। परन्तु, मां-बापके प्रति पुत्रकी भक्ति अीश्वर-भक्ति जितनी ही होनी चाहिये, अितनी बात बिना दलीलके मनमें जम गयी थी।

आगे चलकर मैंने सुबह अुठते ही नियमित माता-पिताके चरण-स्पर्श करनेका क्रम बांध लिया। हमारे यहां अिस प्रकारकी चाल नहीं थी, अिसलिअे कितनों ही को अिससे आश्चर्य हुआ। लोग मुझे भक्त कहने लगे। पहले-पहले मैं शरमाता था, बादमें शरम निकल गयी; परन्तु अिसके साथ अभिमानका आरंभ हुआ। शुरूके दिनोंमें वह अभिमान नहींके जैसा और सात्त्विक कहा जा सकता था; परन्तु अुसके बढ़ने पर मेरे मनमें यह भाव जागा कि मैं अपने बड़े भाअियोंसे भी कुछ अच्छा हूं। अिस गर्वके कारण ही पुंडलीक, श्रवण आदि पितृभक्तोंकी कथाओंमें मुझे विशेष आनन्द मिलने लगा।

भक्तिमें से सेवा अुपजी। पिताजी पर पंखा झलना, अुनके जूते साफ करना, माताजीको दुपहरको पानी पिलाना, अुनके बाल अूंछना आदि सेवाके प्रसंग मैं खोजने लगा। और जैसे-जैसे प्रसंग मिलते थे वैसे-वैसे मैं आनन्दित होता था।

आज विचार करने पर मुझे लगता है कि धार्मिक भावनाका प्रारम्भ माता-पिताकी भक्तिसे हो, यही अुचित है। मनुष्यकी स्वाभाविक भावनाओंके खूब बढ़ जाने पर, अुत्कट होने पर, अुनमें से धार्मिकता प्रकट होती है। यदि यह बात सच हो तो यह सब तरहसे अुचित है कि माता-पिताके प्रति प्रेमसे ही आदर, श्रद्धा और निष्ठाका अुद्भव हो।

४

माताजीका धर्म

जैसे-जैसे विचार करता हूं वैसे-वैसे मुझे निश्चय होता जाता है कि मेरा धर्म मुझे मेरी मांने ही दिया। मेरी मांको लिखना-पढ़ना नहीं आता था। अतः संस्कृत तो क्या, मराठी पुस्तकोंसे भी अुनका परिचय नहीं था। मेरी दादीको मन्दिरमें जाकर पुराण सुननेकी जैसी आदत थी वैसी आदत भी मेरी मांको नहीं थी। अैसी आदतको तो लत कहकर मेरी मां अुसकी निन्दा करती थीं। अपना घर संभालना, अपने बच्चोंके कल्याण-कार्योंमें रचे-पचे रहना, सगे-सम्बन्धियों और अतिथि-अभ्यागतोंका अपनी श्रद्धाके अनुसार स्वागत-सत्कार करना, मनुष्यके आश्रयमें रहनेवाले पशु-पक्षियोंके प्रति दयाभाव रखना, कुल-परंपरासे चलते आये त्योहारों और अुत्सवोंको भक्तिके साथ मनाना और अुनमें भरे हुअे जीवन-काव्यका आनन्द लेना —यही सब था मेरी मांका धर्म। घरमें कोअी बीमार पड़े, किसी भी प्रकारका संकट आ जाये, तो मानता मानना और जब तक मानता पूरी न हो जाये तब तक बड़ी सजगतासे अुस अृणका हिसाब रखना और पिताजीको समय समय पर अुसकी याद दिलाना, यह था मांका प्रधान कर्तव्य। कुटुम्बमें कोअी भी महत्त्वका काम करना हो—घरमें नयी लड़की लानी हो, कोअी बड़ी यात्रा करनी हो, तो कुलदेवकी आज्ञा मांगे बिना वे कुछ न करतीं। अुठते-बैठते अुन्हें भगवानका प्रत्यक्ष स्मरण रहता था। जिस प्रकार पिता, माता, दादी, बुआ, भाअी, भाभियां आदि घरके कुटुम्बी थे, अुसी प्रकार, बिलकुल अुतनी ही सचाअीसे, भगवान भी हमारे कुटुम्बी थे। भगवान दिखाअी नहीं देते थे, फिर भी घरमें अुनका कमरा था और यात्रामें वे हमारे साथ रहते थे। मैं नहीं मानता कि मेरी मांके लिअे अुनके माता-पिता अथवा सास-ससुरकी अपेक्षा कुलदेव भगवान कम प्रत्यक्ष रहे होंगे।

आजकल मेरे जैसोंके जीवनमें धर्मके ज्ञान और अुसके आचरणमें जो भारी अन्तर दिखाअी पड़ता है और अुसके कारण जो निरन्तर

असंतोष तथा पश्चात्ताप बना रहता है वह मेरी मांके जीवनमें नहीं था। अुनकी मान्यता थी कि जिस प्रकारका भोलाभाला, मुग्ध जीवन वे व्यतीत करती हैं वही भगवानको प्रिय है और अुतनेकी ही भगवान अपेक्षा रखते हैं। भगवान जानते हैं कि हम कोअी साधु-सत्पुरुष नहीं हैं, न कोअी त्यागी-वैरागी हैं और न संत-महन्त ही हैं; हम तो सीधे-सादे गृहस्थाश्रमी हैं। हमारा धर्म कैसा और कितना है, भगवान भलीभांति जानते हैं। अुस सरल धर्मकी सरल कसौटी पर ही भगवान हमें कसेंगे। अुस कसौटी पर हम खोटे न अुतरें तो बस है।

यह थी मेरी मांकी श्रद्धा। और अुनका समाजधर्म था — कभी किसीका बुरा न करना, बुरा न मनाना, घरके सब लोगोंके साथ पक्षपात रहित समान प्रेम रखना, पराये घरसे लायी हुअी बहुओंको बेटियोंके समान रखना, अपनी शक्तिके अनुसार जितना हो सके अुतना परोपकार करते रहना और समाजमें हमें कोअी बुरा न कह सके अिसकी सतत सावधानी रखना। देवपूजा तो नित्य होती ही थी। पूजा पूरी होनेके पहले कुछ खाया नहीं जा सकता था; पूजा, नैवेद्य, वैश्वदेव और काकबलि सब नियमके अनुसार अेकके बाद अेक होता था, और अिस सबके बाद ही भोजन होता था।

धर्मके सम्बन्धमें मेरी मांके दूसरे कुछ आग्रह थे, जो घरमें अन्त तक चले नहीं। परन्तु मांने अपना आग्रह अन्त तक खींचा जरूर।

पहला आग्रह यह था कि घरमें मिट्टीके तेलके दीये न आयें। घरमें जहां-तहां समाअियां, दीवटें और दीये होते थे; रात्रिको कहीं बाहर जाना-आना होता तो गरीके तेलकी बत्ती होती थी। अुन दिनों और अुन हालतोंमें हमें कितनी मुसीबतें भोगनी पड़ती थीं, यह मुझे अच्छी तरह याद है। परन्तु मां तो हमेशा कहती थीं कि तिलका तेल दीयेमें जलानेसे घरमें लक्ष्मी रहती है। मिट्टीका तेल (घासलेट) तो 'अवदसा' है। (अवदसा = अवदशा : लक्ष्मीकी अुलटी स्थिति। जिस प्रकार खुशहाली और गरीबी विरोधी शब्द हैं, अुसी प्रकार अुस जमानेमें लक्ष्मी और अवदसा शब्दोंका प्रयोग हुआ करता था।)

मांका दूसरा आग्रह था कि घरमें दूध न खरीदा जाय। 'मोज्या-माप्या खाशील काय पाप्या?' — नाप-जोख कर खानेको रखे तो हे पापी, तू कितना और क्या खायेगा? यही मांका अिस विषयमें सूत्र था। घरमें हाथी जैसी अेक भैंस हो, अेक-आध कपिला गाय हो, तो सब बालबच्चे जी भरकर दूध, दही, मक्खन और घी खायें! दुपहरको आंगनमें कोअी भिखारी आ जाये तो अुसे ठंडी-ठंडी छांछ पिलायी जाये! अिसके बदले ग्वालेके पाससे जैसा-तैसा दूध खरीद कर कुटुम्ब कब तक चलाया जा सकता है? हम सतारासे कारवार गये, वहांसे धारवाड़ गये, बादमें बेलगांव आये। सब जगह घरमें जब तक दुधारू जानवर न होता तब तक हम बाजारसे घी-दूध लाते थे; पर हमारी मां स्वयं घी-दूधके बिना रहती थीं। वे कहतीं — "बाजारका घी बसाता है, मुझसे खाया ही नहीं जाता।" फलतः घरमें भैंस लानी ही पड़ती थी।

अुनका तीसरा आग्रह यह था कि घरमें कितने ही मेहमान क्यों न आये हों — वे ब्राह्मण हों अथवा शूद्र — सबको भोजन तो कराना ही चाहिये। गांवके किसान आते तब अुनके लिअे बनाया तो सिर्फ भात और बेसन ही जाता, परन्तु दिनमें तीन-तीन चार-चार बार रसोअी चढ़ाअी जानेकी बात मुझे याद है।

चौथा आग्रह, जो अन्त तक न टिका, घरके जेवरोंके सम्बन्धमें था। वे कहती थीं कि जेवरोंमें शुद्ध सोनेका ही अुपयोग होना चाहिये। गिनी गोल्ड, जिसे अुस जमानेमें 'पवन' या 'पौन' कहते थे, पहले-पहल मैं घरमें लाया था और मैंने अुसकी अंगूठी बनवायी थी। अुस पर मुझे मांकी फटकार सुननी पड़ी थी। अुनकी दलील थी कि गिनीका सोना चाहे जितना चमकता हो, अुसके बने जेवरोंकी आवाज चाहे जितनी मधुर लगती हो, आखिर है तो वह मिलावटी चीज ही; अुसे घरमें स्थान नहीं देना चाहिये।

मांको भी अिस धर्मका पालन करते हुअे अेक बार बड़े संकटका सामना करना पड़ा था। गोआके कारीगर गिनी गोल्डके बहुत सुन्दर, नाजुक 'कमल' (कर्णफूल) बनाते थे। अुन्हें 'साळक' कहते थे। अैसी कमलोंकी जोड़ी देख कर मांका मन भी लुभा गया। अुन्होंने पिताजीसे

अुसकी बात की। दोनोंके बीच महीनों तक यह बात चलती रही। अेक वैसी सुन्दर जोड़ी बनवा लेनेका निश्चय भी हो गया। परन्तु अन्तमें मां हिम्मत हार गयीं। अुन्होंने कहा — "सोनेके फूल तो बहुतसे हैं, अुन्हें ही पहन मैं कर संतोष कर लूंगी।" बादमें कितने ही सुनारोंसे मांने पूछा कि क्या शुद्ध सोनेके कमल नहीं बन सकते? सबने यही अुत्तर दिया कि शुद्ध सोनेकी अुतनी पतली पंखुड़ियां नहीं बन सकतीं। और मोटी पंखुड़ियां मांको पसन्द न आती थीं!

५

पिताजीकी साधना

मेरी माताकी धर्म-विषयक कल्पनामें सामाजिक सदाचार, कुलधर्म, व्रत और अुत्सव ही प्रधान थे। पिताजीकी धर्म-भावनामें कुलधर्म और व्रतोत्सव तो थे ही, परन्तु अुनके अलावा अेक ओर कर्मकाण्डका विशेष स्थान था और दूसरी ओर कर्म-सिद्धान्तकी अटलता पर अुनका विश्वास मुझ पर असर करता था। मैं मानता हूं कि अुनके मनमें तीर्थयात्राके लिअे भी विशेष आकर्षण रहा होगा।

समाज, समाज-धर्म और सामाजिक प्रतिष्ठाके प्रति मेरी माताकी जो निष्ठा थी अुसका पिताजीमें करीब करीब अभाव ही था। लोगोंके बीच जा कर मिलने-जुलनेसे अुन्हें बहुत अरुचि थी। अपने जीवन-व्यवहारके लिअे जितने लोगोंसे मिलना पड़ता अुतनोंसे ही वे मिलते थे। अुन्हें अपने बचपनमें गायनका शौक था। मैंने सुना था कि वे घरमें सितार रखते और बजाया करते थे। परन्तु मेरे समयमें अुन्होंने अुसे बिलकुल छोड़ दिया था। किसी प्रिय गीतकी अेक-आध कड़ी अपने-आप गुनगुनाते हुअे भी मैंने अुन्हें अेक-दो बार ही सुना था। पूजाके बाद वे जो मंत्र-पुष्प बोलते थे अथवा स्नानके बाद जो नवग्रह-स्तोत्रका पाठ करते थे, अुसके माधुर्यसे ही मुझे कल्पना करनी पड़ती थी कि जरूर किसी समय अिन्हें संगीतका शौक रहा होगा। जवानीमें भी अुन्होंने कभी संगीतकी

महफिल बुलायी हो, अैसा मैंने कभी नहीं सुना। दस लोगोंको घरमें अिकट्ठा करना, चा-पानी करना भी अुन्हें अच्छा नहीं लगता था। घरमें कोअी मेहमान आ जाता तो अुसके स्वागत-सत्कारमें कोअी कमी न रहती, परन्तु अुन्होंने कभी किसीको खास तौरसे बुलाया हो या वे खुद अुत्साहके साथ कहीं गये हों, अैसा अेक भी प्रसंग मुझे याद नहीं आता। अिस प्रकार अुनका स्वभाव निवृत्ति-परायण था। बालपनमें वेद-पठनमें अुन्होंने अच्छी मेहनत की थी। हम सबको संध्या-पूजा, वैश्वदेव, रुद्र, पवमान, देवे आदि वैदिक सूक्त और कर्मकाण्ड सिखानेके लिअे अुन्होंने शास्त्री नियुक्त किये थे। धार्मिक वाचनके लिअे अुन्होने हमें शिवलीलामृत, राम-विजय, पांडव-प्रताप, हरि-विजय, गुरु-चरित्र, मंगेशी-माहात्म्य आदि ग्रंथ मंगा दिये थे। परन्तु वे स्वयं धर्मग्रंथका वाचन करनेके लिअे भी नहीं बैठते थे। नित्यकी पूजामें वे बिलकुल तल्लीन हो जाते थे। अुनके अिस प्रकारके विश्वाससे मुझे बड़ा लाभ हुआ है—'हम खुद किसीका बुरा न करें तो भगवान हमारा कभी बुरा नहीं करेगा; हम अपनी सज्जनता और अीश्वर-भक्ति पर विश्वास रख कर दुनियामें प्रवेश करें तो निर्भय रहेंगे; कोअी हमारा बुरा करने आयेगा तो वह दुर्जन खुद ही संकटमें पड़ेगा; हमें अुसके सामने अपने-आपको बचानेकी झंझटमें पड़नेकी कोअी जरूरत नहीं; अपने भोलेपनमें हम सुरक्षित हैं।' पिताजीकी यह अलिप्तता और समाज-विमुखता बहुत अंशोंमें मुझमें भी आ गयी है। अिसलिअे समाजमें आगे आनेके चाहे जितने अवसर मुझे मिले हों, मैंने अुनका लाभ नहीं अुठाया। आगे आनेका अवसर खोजनेमें कुछ हीनता है—यह भाव मेरे मनमें अैसा ठसकर बैठ गया है कि अिस प्रकारकी अिच्छा मनमें अुठनेके पहले ही मैं शरमा जाता हूं। अिसे मैं अपने पिताजीकी विरासत मानता हूं।

कालेलकर कुटुम्बकी ही रांगणेकर शाखाके श्री रघुनाथ बापू सावंत-वाड़ीमें रहते थे। अुन्होंने चालीस वर्ष तक, या अिससे भी अधिक, राजयोगका अभ्यास किया था। गुजरातीमें जिसे 'अवळवाणी'—वाच्यार्थसे अुलटा अर्थ सूचित करनेवाली वाणी, गूढ़ वाणी—अुलटबांसी—कहते हैं, अुसमें राजयोग और हठयोग सम्बन्धी कविता-साहित्य अुनके पास बहुत

था। मनुष्य-समाजके बाल्यकालमें अैसे साहित्यका लोगोंको बहुत आकर्षण होता है। अिसमें कही हुअी गूढ़ बातें जो खोल सके अुसीको सच्चा विद्वान और रहस्यका ज्ञाता माना जाता है। मराठीमें अिस प्रकारकी 'अुलटबांसी' को 'ज्ञानदेवकी मेख' भी कहा जाता है।

श्री रघुनाथ बापूने मेरे पिताजीको राजयोगकी दीक्षा दी। अुसके बाद वर्षों तक पिताजी रात्रिमें सोनेके पहले ध्यान करने बैठते रहे। अुनके ध्यानके लिअे आसन आदिकी तैयारी करनेमें मुझे बड़ी धन्यताका अनुभव होता था। मैं नहीं मानता कि रघुनाथ बापूके दिये हुअे मंत्रके जापके अलावा पिताजी अपने ध्यानमें और कुछ करते होंगे। अुनका वैसा स्वभाव ही नहीं था। अुनकी वह दिशा ही नहीं थी।

रघुनाथ बापूने जब मेरे पिताजीको आत्मा और परमात्माकी अेकता समझायी और अद्वैतकी भूमिका पर जाकर कहा कि तुम स्वयं ही परब्रह्म हो, तो पिताजीने कुछ व्याकुलताके साथ कहा—"आप जो कहते हैं वह सब बात सच है, पर कुलदेवके प्रति मेरी निष्ठा और भक्ति कम होनेवाली नहीं है।" बापूके साथ अपने अिस संवादकी रिपोर्ट पिताजीने स्वयं मुझे सुनायी थी। वे अपनी अैसी ही बहुतसी बातें मुझे बताया करते थे।

मुझ पर पिताजीकी अिस निष्ठाका बहुत प्रभाव पड़ा। आगे चलकर जब मैंने अद्वैतवादके परम आचार्य शंकराचार्यका निम्नलिखित श्लोक पढ़ा, तब तुरन्त मुझे पिताजीकी याद आ गयी। श्लोक है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

भेदभाव बिलकुल निकल गया, फिर भी हे नाथ! मैं तुम्हारा हूं, परन्तु तुम मेरे नहीं हो। 'समुद्रकी तरंग' तो कहा जाता है, परन्तु 'तरंगका समुद्र' किसीने नहीं कहा।

भर्तृहरिके अेक श्लोकके अंतमें भी जब पढ़ा कि 'तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे'—शिव और विष्णुके बीच भेद तो नहीं है, फिर भी मेरी भक्ति भालचन्द्र शिवजीके प्रति ही है—अुस समय भी मुझे पिताजीका स्मरण हो आया।

रघुनाथ बापू स्वभावसे प्रचारक थे। वे आक्रमणकी भावनासे आ धमके। परन्तु अुनके राजयोगका वैसा ही हाल हुआ जैसे बाढ़का। पानी बढ़ता है और फिर कम हो जाता है। मुझे अपने बालपनसे ही पिताजीकी धार्मिक भूमिकाका ठीक-ठीक परिचय था। मेरी मुग्ध भक्ति और अुसके बादकी नाम-स्मरण सम्बन्धी अनुरक्ति दोनोंको पिताजी जानते थे। तीर्थयात्राके सम्बन्धमें मेरे पक्षपातको भी अुनसे प्रोत्साहन मिला था। जब मैं बुद्धिवादी संशयसे घिर गया, अुस समय मैंने अपने मनकी स्थिति पिताजीको बतायी थी। जब मैं कट्टर नास्तिक हो गया था, तब भी कुलदेवताके प्रसादके सम्बन्धमें अपनी भक्ति मैंने पिताजीको बतायी थी। यह खूबी तो पिताजीकी निष्ठासे ही अुत्पन्न हुअी थी। मेरे संशयवादके दिनोंमें पिताजी मेरी सब बातें चुपचाप सुनते थे। अुन्होंने कभी अेक शब्दसे भी मेरा विरोध नहीं किया। वे केवल अितना कहते थे — "तेरी सब बात सुनने पर भी कुलदेवताके प्रति मेरी निष्ठा कम नहीं होती। वही हमारी रक्षा करते हैं। वही हमें रास्ता बताते हैं।"

आगे चल कर जब मेरी निष्ठा वेदान्त पर दृढ़ हो गयी तो मैंने अुसकी बातें पिताजीसे कहीं। अुसमें अुन्हें बड़ी दिलचस्पी मालूम हुअी। अेक दिन अुन्होंने कहा — "मुझे तेरे साथ भगवद्गीता पढ़नी है।" अुन्हें संस्कृत नहीं आती थी। परन्तु गीताके श्लोक बोलने और अुनका अर्थ समझनेका अुत्साह था। रघुनाथ बापू और अुनके राजयोगसे जो न हो सका वह गीताने कर दिया। जैसे-जैसे वेदान्तके सिद्धान्त चित्तमें बैठते गये वैसे-वैसे जन्म-भर अत्यन्त श्रद्धासे पाला हुआ कर्मकाण्ड-क्रिया-काण्ड अुनके जीवनमें शिथिल पड़ता गया। छूतछातका आग्रह भी मर्यादित हो गया। वे जगत, जीव और जगदात्माके विषयमें चिन्तन करने लगे और विश्वका रहस्य खोजनेके आनन्दमें लीन होने लगे। अिस चिन्तनमें से यदि कोअी छोटा-मोटा सिद्धान्त वे निकाल पाते तो मेरे साथ अुसकी चर्चा अुत्साहके साथ करते थे। अुनकी मृत्युके समय अुनके सामने मैंने सम्पूर्ण गीताका पाठ किया था। अुस समय मुझे जो संतोष हुआ, अुसे मैं शब्दोंमें व्यक्त नहीं कर सकता।

६

मांका सिखाया कुटुम्ब-धर्म

मेरी मांने जिस प्रकार मुझे मेरा धर्म दिया, अुसी प्रकार स्पष्ट शब्दोंमें कुटुम्बियोंके प्रति मेरा धर्म भी मुझे सिखाया।

पुत्रका पिताके प्रति क्या धर्म है, यह तो वे अनेक बार मुझे समझाया करती थीं। प्रसंगके अनुसार, अेक अेक करके, ये सब बातें मैंने मांके मुंहसे सुनी थीं — पिताजी अपने सुख या आरामका कोअी विचार किये बिना दिनरात जो यह सब मेहनत करते हैं, कमाया हुआ धन अपने लिअे जरासा भी खर्च किये बिना हमारे लिअे खर्च करते हैं, हमारी शिक्षा-दीक्षाकी अितनी अधिक चिन्ता रखते हैं, हमारे बीमार होने पर जागते बैठे रहते हैं, हमारी प्रगतिसे सन्तोषका अनुभव करते हैं और समाजमें हमारे लिअे स्थान बना देते हैं, यह सब अुनका प्रेम है, अुनका अुपकार है। अिसलिअे हमें अुनकी सेवा करनी चाहिये, अुनकी आज्ञा माननी चाहिये, अुन्हें जिससे संतोष हो वैसा बरताव करना चाहिये। मांके वचन मेरे लिअे हमेशा ही प्रमाण होते थे, अिसलिअे यह सब सहज ही मेरे गले अुतर जाता था। परन्तु अिन सब वचनोंका मुझ पर जो गहरा असर होता, वह अिसलिअे कि मेरे पिताजीके प्रति मेरी मांकी भक्ति बहुत गहरी थी।

माता-पिताका परस्पर सम्बन्ध पति-पत्नीका होता है, यह भी अुस समय मेरे ध्यानमें नहीं आया था। और यह भी मेरे ध्यानमें आनेका कोअी कारण नहीं था कि मेरे पिताके प्रति मांकी भक्ति विशुद्ध प्रेम ही है।

अेक दिन मैं अपनी मांके साथ अेक बगीचेमें घूम रहा था। वहां अेक असाधारण सुन्दर, खुशबूदार और ताजा गुलाबका फूल देखकर मेरी मांका मन ललचा अुठा। अुन्होंने अुसे तोड़कर हलके-से, अंगुलियोंमें पकड़ लिया और जहां पिताजी बैठे थे वहां जा कर अुन्हें दे दिया। अितनी भक्तिसे दिया कि अुनकी आंखोंमें अुस भक्तिके तेजको असाधारण

रूपसे प्रकट होते मैंने देखा। पिताजीने प्रसन्न होकर वह फूल लेकर अुसे सूंघ लिया। मां धन्य-धन्य हो गयीं और खाली हाथ वापस लौटीं। खाली हाथ अिसलिअे कहता हूं कि मांने अिस स्पष्ट भावसे अपना हाथ लटकता हुआ रखा था कि जो-कुछ मेरे पास देनेको था वह सब दे दिया, और मेरा ध्यान अुसकी ओर तुरन्त गया था। वापस लौटते हुअे मांने मुझसे कहा—"गुलाबका फूल अुन्हें बहुत अच्छा लगता है।" अितनी बात कहे बिना मांसे रहा नहीं गया, यह भी मैंने देखा।

अुस दिनसे मैं पिताजीकी सेवा और भी अधिक प्रेमपूर्वक करने लगा। पिताजीकी कोअी छोटीसी भी सेवा करनेका अवसर मिलता तो मैं भी धन्यताका अनुभव करने लगता।

अेक दिन मुझे बहुत दुःखद अनुभव हुआ।

पिताजीकी बदली हो गयी। हम कारवार गये। समुद्रके किनारेका गर्म प्रदेश था। बेलगांव-सताराकी ओरकी ठंडी और सूखी हवामें पले हुअे हम लोग कारवारकी गीली गर्मीसे बर्फके समान पिघलने लगे। सब लोग यही सोचते रहते कि दुपहर कब समाप्त हो और कब सायंकालकी ठंडी हवा मिले। पानीसे भरा लोटा रूमालसे मुंह बांधकर अुलटा टांग देनेकी रीति किसीने हमें बता दी थी, अिससे ठंडेसे ठंडा पानी पीनेको मिल जाता था। पर जितना पानी पीते थे अुतना पसीनेके रूपमें बाहर निकल जाता था।

रविवारका दिन था। भोजन करनेके बाद पिताजी चटाअी पर सो रहे थे। हनुमान जिस तरह रामचन्द्रकी भक्ति करते थे, अुसी प्रकार मैं खड़ा पिताजी पर पंखा झल रहा था। पंखा झलते झलते मैं थक गया। खड़े खड़े मेरे पैर रह गये। पंखा चलाते-चलाते हाथ तो थक गया था, परन्तु मेरी भक्ति नहीं थकी थी। पंखा झलता जा रहा था और समझाती पिताजीकी गहरी सांस सुन सुन कर संतोष पा रहा था।

अिसी बीच बाहर अेक स्त्री अच्छी-अच्छी ककड़ी बेचने आयी। कोमल, कुरकुरी ककड़ी देखकर मनमें आया कि यदि पिताजीको अैसी ककड़ी खानेको मिले तो अन्दरसे ठंडक पहुंचेगी, शान्ति मिलेगी। मैं अितना बड़ा नहीं था कि अपने मनसे ककड़ी खरीद लेता। मैंने पिताजीको जगाया।

गहरी नींदसे जागनेके कारण वे नाराज हुअे। अुसनींदे ही बोल अुठे—"कैसा कसाअी है तू, जरा सोने भी नहीं देता!"

मेरे दिलको बड़ी चोट पहुंची। क्या करने गया था और क्या हो गया! मुंहसे अेक शब्द भी न निकला। अुदास होकर खड़ा देखता रह गया। बादमें अुन्होंने देखा कि अच्छी ककड़ियां आयी हैं। अुन्होंने प्रसन्नतासे अुन्हें खरीदा। चाकू निकालकर अुन्हें काटा, अुन पर नमक बुरक कर और निचोकर अुनका कुछ पानी निकाल दिया और पहला टुकड़ा मुझे दिया। मैंने कहा—"नहीं, पहला टुकड़ा आप खाअिये।" पिताजीने कहा—"नहीं, तू खा।" जागनेके बाद वे वस्तुस्थिति समझ गये थे। मेरा अुतरा हुआ मुंह भी अुन्होंने देखा था। मुझसे पहले खानेका अुनका आग्रह अपनी भूल स्वीकार करनेका अेक तरीका था। मैं अपनी जिद पर कायम रहा। अुन्होंने ककड़ी खा ली। मांके हिस्सेकी ककड़ी मैंने ले जाकर अुन्हें दी। अिसके बाद ही मैंने ककड़ी खाअी। अुस दिन अपने हिस्सेकी ककड़ी माता-पिताके खानेके बाद खानेमें मुझे जो आनन्द हुआ, वह भी मेरा अेक धर्मानुभव ही था। मांको मेरी अिस प्रकारकी वृत्ति बहुत अच्छी लगती थी। वे बड़ी प्रसन्न होती थीं।

मां मुझे हमेशा शिक्षा दिया करती थीं कि जिस तरह लक्ष्मणने रामकी सेवा की थी अुसी तरह तू भी बड़े भाअियोंके कहनेमें रहना। लक्ष्मणके तो अेक ही बड़ा भाअी था। मेरे हिस्सेमें पांच थे, और वे सब राम नहीं थे। वे मेरी लक्ष्मण-वृत्तिका खूब लाभ अुठाते थे और फिर मुझसे झगड़ते और मुझे मारते थे, सो अलग।

मैं अपना यह धर्म समझता था कि वे मुझे मारें और डाटें-फटकारें तो भी अुनके प्रति मेरे प्रेममें कोअी कमी नहीं आनी चाहिये, और मैंने अपने अिस धर्मको बहुत हद तक निभाया। गोंदूकी अुम्र लगभग मेरी जितनी ही थी और हम दोनों अेक-दूसरेके साथी थे, अिसलिअे वह मेरे अूपर बड़े भाअीके रूपमें रुआब नहीं कस सकता था। मुझे बहुत सहना पड़ा भाअू (केशू) के हाथों। वह लहरी, मौजी और शीघ्रकोपी था। अपनी अिच्छाओंका दास था। अुसके हाथों मैंने बहुत मार खायी और आश्चर्य यह कि अुस पर ही मेरी भक्ति अधिक रही। अुस समय मुझे

अैसा लगता था कि मैं आदर्श बन्धुप्रेमके संस्कार प्राप्त कर रहा हूं। आज मैं समझता हूं कि वह अेक प्रकारकी विकृति थी और गुलामीकी वृत्तिका रूप धारण कर रही थी। केशूसे विष्णु अुम्रमें थोड़ा बड़ा था, परन्तु अुसके प्रति भाअूने लक्ष्मण-वृत्ति नहीं सीखी थी। भाअू अुसकी निन्दा करता था और मुझे भी अुस निन्दामें शामिल होनेके लिअे न्यौता देता था। मैं परेशानीमें पड़ जाता था, परन्तु करता वही था जो भाअू कहता था।

पितृभक्ति और ज्येष्ठ बन्धुभक्ति मैंने अपनी मांसे सीखी, परन्तु मातृभक्ति तो मुझे किसीने सिखाअी ही नहीं।

माताको हमेशा 'तू' कह कर पुकारा जाये, जिस चीजकी अिच्छा हो वह हठपूर्वक मांग ली जाये, अनेक प्रकारसे अुन्हें सताया जाये, पिताजी मांको डांटें-फटकारें तो निरपवाद रूपसे पिताका पक्ष लिया जाये और अिस प्रकार मांको और भी दुःखी किया जाये — अैसी स्थितिमें माताके प्रति भक्तिका वातावरण कैसे पैदा होता? परन्तु यदि मांको जरा-सा भी दुःख होता तो मैं अन्दर ही अन्दर अितना व्याकुल हो जाता मानो अधमरा हो गया होअूं। माताकी सेवा करते हुअे मुझे असाधारण आनन्द मिलता था। जब मां अपने सुख-दुःखकी बातें मुझे सुनातीं तब तो मैं गल-सा जाता, पिघल अुठता। अुनके प्रति भक्ति नहीं, अुत्कट प्रेम ही मेरे हृदयमें विकसित हुआ। और वह बिना सिखाये। स्वयं मांने मुझे मातृभक्तिकी शिक्षा कभी अेक शब्द द्वारा भी नहीं दी। जब मैं पिताका पक्ष लेता तो कभी-कभी वे कहतीं — "आखिर तू भी अुनका ही पक्ष लेता है! मेरी लड़की होती तो अैसा न करती।" मैंने निश्चय कर लिया कि मैं तो मांकी लड़की ही बनूंगा। वे स्नान करने बैठतीं तो अुनकी पीठ मल देता, अुनकी कमर दुखती हो तो अुसकी मालिश कर देता, अुनके बाल अूंछ देता। चोटी गूंथनेमें तो मैं निष्णात हो गया!

परन्तु जब पिताजी और मांके बीच मतभेद होता तब तो मैं पिताजीके ही पक्षमें रहता। अुसमें लड़की बननेकी बात मुझे कभी नहीं सूझी।

७

पश्चात्तापका साक्षात्कार

'स्मरण-यात्रा' में या किसी दूसरी जगह मैंने अपनी दादीके बारेमें लिखा ही है। जबके मेरे ये संस्मरण हैं, तब दादी अितनी बूढ़ी हो गयी थीं कि सीधी खड़ी भी नहीं हो सकती थीं। अुनकी कमर झुक गयी थी। फिर भी मन्दिरमें या किसी दूसरी जगह कोअी अुत्सव होता तो वहां जाकर देखनेका अुनका अुत्साह टूटा नहीं था। झुकी हुअी कमर लिअे वे वहां बिना चूके पहुंच जाती थीं। लोगोंमें अुनकी टीका होती थी। मांको अिस टीकासे बुरा लगता था। मन्दिरमें जानेकी भक्ति या अुत्साह दोनोंको था, फिर भी दादीकी बे-हिसाब चावल और सीधा देनेकी आदत मांको अच्छी नहीं लगती थी। घरका सारा प्रबन्ध मां ही करती थीं। दादी दिनमें भोजन बनाती थीं। शामको अपने लिअे खुद 'दशमी' (दूधमें सने हुअे आटेकी रोटी) अथवा 'थालीपीठ' (आटेमें दाल, शाक, मसाला आदि मिलाकर हाथसे पो कर बनाअी हुअी रोटी) बना कर खाती थीं। अुनके दाहिने हाथकी बीचकी अंगुलीमें डॉक्टरने आपरेशन किया था, अिसलिअे वह छोटी और टेढ़ी हो गयी थी। जब वे दशमी या थालीपीठ बनातीं तो अुसमें अिस अंगुलीके गड्ढे पड़ जाते थे जिन्हें देखकर हमें बड़ा मजा आता था।

धर्मानुभवकी दृष्टिसे मुझे अितना ही लिखना है कि जिस तरह मेरे बालध्यानमें यह बात नहीं आ सकी कि मेरी माता मेरे पिताकी पत्नी है, अुसी तरह यह बात भी नहीं बैठ सकी कि मेरी दादी मेरे पिताकी माता है। माताके लिअे जो प्रेमकी अुमड़ मेरे अन्दर थी वैसी ही पिताजीके हृदयमें दादीके लिअे होनी चाहिये; और मेरे मनमें तो दादीके लिअे परम भक्ति होनी चाहिये यह भी मुझे अन्त तक नहीं सूझा। यह सोच कर कि दादी मेरी मांकी सास हैं और अुन्होंने बचपनमें मांको बहुत परेशान किया है, कभी-कभी वे मुझे बहुत अप्रिय मालूम होतीं।

पिताजी तो मां और दादीके बीचके झगड़ोंमें पड़ते ही नहीं थे। घरमें शांति रखनेका यही अेक अुपाय था। मां और दादी दोनोंको मैंने अिस चिढ़में रोते देखा है कि मेरे पिताजी सब-कुछ चुपचाप सुन लेते हैं और कुछ बोलते या करते नहीं। झगड़ेके दिन पिताजी अैसे गुमसुम रहते थे कि अुनके पास जाकर बातें करनेकी हिम्मत घरमें सिर्फ मैं ही कर सकता था।

घरके अिस वातावरणका मेरे बालमन पर कुछ विलक्षण असर होता था। गलती दादीकी है यह तो मैं साफ देख सकता था। वे क्रोधमें आकर और अुससे अंधी होकर जो मनमें आता वही बोलती थीं। परन्तु मैं यह भी जानता था कि वे अकेली हैं, असहाय हैं और आखिरमें अुन्हें ही चुप होना है। परन्तु मुझे अुन पर दया नहीं आती थी। कभी-कभी दुपहर या रात्रिको जब देवघरमें अेकान्त होता, वे भगवानके सामने बैठ कर अपना दुखड़ा रोया करती थीं। यह सब मन ही मनमें नहीं होता था; विधिपूर्वक सब-कुछ बोलकर वे भगवानको सुनाती रहती थीं। अेक दिन मेरे मनमें आया कि चलो, आजीसे कुछ मसखरी करें। मैं देवघरके दरवाजेके सामने जाकर चुपचाप खड़ा हो गया। आजीने जब अपना रोना शुरू किया तो मैं मानो भगवान बोलता हो अैसी गंभीर आवाजमें बोला, "हे आजीबाअी, तुम दुःख न करो, मैं तुम्हारा दुःख दूर करूंगा।" मुझे अैसा नहीं लगा कि मेरी आवाज आजी पहचान सकेंगी। अितना नाटक करके मैं मांके पास भाग गया और मैंने अुनसे सारा पराक्रम कह सुनाया। पहले तो मां अपनी हंसी न रोक सकीं, परन्तु जी भरकर हंसनेके बाद अुन्हें बुरा लगा। अुन्होंने कहा — "दत्तू, अैसा फिरसे मत करना। फिर करेगा तो आजी 'अुनसे' कहकर तुझे पिटवायेंगी। और अगर आजीने न कहा तो मैं कह दूंगी।"

जैसे-जैसे मैं बड़ा होता गया वैसे-वैसे आजीके प्रति अपने रुख पर मुझे अधिकाधिक शर्म महसूस होने लगी। अेक बार हम सब सावंतवाड़ी गये थे। बैलगाड़ीमें बैठकर वापस आये और जब बेलगूंदीमें अपने घर पहुंचे तो हमारे मंझले भाअी विष्णुने पिताजीसे कहा — "घरमें किसी चीजको छूना मत, अपने यहां सूतक है।" पिताजी सुनते ही स्तब्ध रह गये

और बड़ी देर तक खंभेसे टिके खड़े रहे। विष्णुने सब विवरण अुन्हें सुनाया। आजी कैसे बीमार रहीं, किसने क्या दवा की आदि तो बताया ही। अन्तमें यह भी कहा—"दाह करनेके लिअे मंत्राग्नि देनेवाला कोअी पुरोहित नहीं था, अिसलिअे हमने भडाग्नि दे दी और मंत्राग्निके लिअे अुनकी अस्थियां अेकत्र करके अेक मटकीमें भरकर बगीचेके अेक वृक्ष पर टांग रखी हैं। अब आपको मंत्राग्नि देनी होगी।" दूसरे या तीसरे दिन पिताजीने वह सब किया। वे महापात्रको लेकर गांवके बाहर बगीचेमें गये और मटकी अुतार कर अस्थियोंको मंत्राग्नि दे आये। पिताजीके साथ सिर्फ महापात्र था। मैं तो था ही। यह विधि पूरी करनेमें बहुत समय लगा। वापस आते समय मैंने पिताजीको दुःखसे व्याकुल हुआ देखा। अुनसे रहा न गया अिसलिअे अुन्होंने मुझसे कहा—"दत्तू, मैंने अपनी मांको अच्छी तरह नहीं रखा। अुनके साथ खूब प्रेमसे बातचीत करता और अुनकी अिच्छाके अनुसार खर्चके लिअे अुन्हें हर महीने पांच-दस रुपये देता रहता तो अच्छा होता। अुन्हें कोअी व्यवहार-ज्ञान नहीं था, अिसलिअे वे पैसा तो बरबाद ही करतीं। परन्तु अिससे क्या? अुन्हें सन्तोष तो होता। और आज मुझे यह पछतावा करनेका मौका न आता।" अुनकी आंखोंसे अेक-दो आंसू टपक गये।

माताके देहान्तका समाचार सुननेके समयसे लेकर मंत्राग्निकी विधि पूरी करके घर वापस आने तक अुनके मनमें क्या-क्या चला होगा, अिसकी कल्पना मुझे कैसे होती? मेरे जैसे बालकके सामने अपना पछतावा प्रकट करनेका मन अुनका हुआ, यही अुनके दुःखकी गहराअीका परिचय दे देता है।

पश्चात्ताप अेक मूल्यवान धर्मानुभव है। जैसे कुछ बरतन मिट्टी या राखसे साफ नहीं होते परन्तु तेजाबसे साफ हो जाते हैं और मैलके निकल या जल जानेसे चमकने लगते हैं, अुसी प्रकार धर्म-जीवन पर छायी हुअी कितनी ही शिथिलता पश्चात्तापसे दूर हो जाती है और मनुष्य अेकाअेक बदल जाता है। सचमुच पश्चात्तापका असर तेजाबसे कम नहीं होता।

८

कुलदेवकी निष्ठा

मांके मुंहसे, और पिताजीके मुंहसे भी, 'घाटाखाली' (सह्याद्रि पर्वतकी घाटियोंके तले) गोआमें अधिष्ठित कुलदेवकी बातें बहुत बार सुनी थीं और अुस स्थान पर जाकर दर्शन करनेकी लालसा मुझे बचपनसे ही थी। मेरे जीवनमें पहली बार हम वहां १८९९ में गये थे और लगभग अेक मास रहे थे।

गोआमें मंगेशी, शान्तादुर्गा (कवळें), महालक्ष्मी (बांदिवड़ें) वेलींग, नागेशी, म्हाडदोळ आदि अनेक स्थान अैसे हैं जहां हम सारस्वतोंके कुलदेव प्रतिष्ठित हैं। अेक-अेक मंदिर मानो अेक-अेक जागीर हो। अेक-अेक मंदिरके प्रति विशिष्ट खानदानोंकी निष्ठा बंधी हुअी है। अिन खानदानोंकी सब मानताअें कुलदेवके सामने आकर पूरी की जाती हैं। मंगेशीमें मैंने दूसरे सारस्वत खानदानोंको भी देखा, जो हमारे ही समान सेवाके लिअे वहां आकर ठहरे थे। अुनमें भी कुलदेवके प्रति वही निष्ठा मैंने देखी और अिससे मेरी निष्ठा परिपुष्ट हुअी।

राजनिष्ठाके समान यह धर्मनिष्ठा और स्थाननिष्ठा कैसी होती है, अिसका मुझे बचपनसे ही गहरा अनुभव था। अिसलिअे मैं सरलतासे समझ सका कि यरुसलमके प्रति अीसाअियोंकी कैसी निष्ठा हो सकती है और मुसलमानोंकी मक्का, मदीना और काबाके प्रति कैसी गहरी और अुत्कट निष्ठा हो सकती है। आज हम अिस निष्ठाको मध्यकालीन वहमी अनुरक्ति कह सकते हैं, परन्तु यह अनुरक्ति कितनी गहरी और सजीव होती है और अिसके अन्दर धर्म-संगठनका कितना जबरदस्त तत्त्व छिपा हुआ है, अिसे हमें आज भी समझ लेना चाहिये। अिस अनुरक्तिको हम अिष्ट मानें या अनिष्ट, अिसके सामर्थ्यसे हम अिनकार नहीं कर सकते। आज यह भले ही कालग्रस्त हो गयी हो, परन्तु अपने युगमें बड़े-बड़े मनुष्य-समाजोंका अिसने धार्मिक संगठन किया है। यदि हमने अिस बातको

भुला दिया तो मध्यकालीन अितिहासको समझनेका अेकमात्र साधन हमारे हाथसे खो जायेगा।

मक्का और काबाने सारी दुनियाके मुसलमानोंको अेक केन्द्र प्रदान किया। अिसी प्रकार चार धामकी कल्पनाने हिन्दुओंके लिअे अुनकी धर्मभूमिकी मानो सीमाअें बांध दी हैं।

जातिसंस्थाकी निन्दा करनेवाले और मूर्तिपूजाका विरोध करनेवाले प्रार्थना-समाजके अेक प्रमुख संस्थापक डॉक्टर भांडारकर जातिके गौड़-सारस्वत थे। विशेष प्रसंगों पर वे बड़ी आत्मीयताके साथ बताया करते थे कि हमारा खानदान गोआके अमुक कुलदेव पर निष्ठा रखता है। गोत्रकी भावना जितनी गहरी होती है अुससे भी अधिक गहरी यह कुलदेव-निष्ठाकी भावना होती है।

प्राचीन कालमें विशाल समाजोंका संगठन हुआ अुससे पहले 'क्लैन' — जमात या गोत्रका संगठन हुआ था। अिन जमातों अथवा गोत्रोंकी निष्ठा किसी मूलपुरुषके प्रति, किसी कुलनामके प्रति या कुलदेवके प्रति होती है। आगे चल कर कुलदेवका स्थान निश्चित होने पर अुस कुलके लोग दुनियामें कहीं भी फैल जायें, फिर भी अुनकी निष्ठा विशिष्ट भूमिके प्रति, स्थानके प्रति और अुस स्थानमें प्रचलित मान्यताओंकी संस्थाके प्रति बंधी रहती है। अिस प्रकार व्यक्तिनिष्ठा और स्थाननिष्ठा अेक-दूसरेमें ओतप्रोत हो जाती हैं। अिसमें से रीति-रिवाज और परंपराअें बंधती हैं और मानव-संस्कृतिका रूप ग्रहण करती है। संस्कृतिके अितिहासकी छानबीन करनेवाले मानसशास्त्रीके लिअे यह धर्मानुभव मूल्यवान होता है। अिसके आधार पर अनेक शताब्दियोंका मानव-अितिहास ठीक-ठीक समझमें आ जाता है।

९

गरीका टुकड़ा

बालपनमें तर्कबुद्धिकी अपेक्षा कल्पनाका राज्य बड़ा होता है। बड़ेपनमें यही कल्पना काव्यका रूप धारण करती है। अर्थात् कल्पना-विलासके चलते हुअे भी यह प्रत्यय अथवा जागृति बराबर बनी रहती है कि यह सब सच नहीं है, माना हुआ है। बालपनमें मनुष्य अपनी कल्पनाके वशमें अितना अधिक हो जाता है कि कल्पनाकी वस्तु अुसके लिअे सच्ची बन जाती है और वह अुसका गुलाम भी हो जाता है।

श्रावणका महीना था। सोमवारके दिन घरकी पूजाका नारियल बदलना था।

हमारे कुलधर्मके अनुसार, देवघरमें पत्थर और धातुओंकी अनेक मूर्तियोंके बीच मुख्य कुलदेव मंगेश महारुद्रके स्थान पर अेक नारियल रखा जाता था। शिवलिंगके नीचे जिस प्रकार चाबीके मुखके आकारकी अर्घा (जलाधारी या जलहरी) होती है, वैसे ही आकारके अेक लकड़ीके आसन पर नारियल रखा जाता था।

नारियल यानी विश्वामित्रकी सृष्टिका मनुष्य। नारियलकी नरेटी अिस मनुष्यकी खोपड़ी है। जिस छिद्रसे नारियलकी फुनगी निकलती है वह अुसका मुंह है। अुसके अूपर दो आंखें तो होती ही हैं। मुंह पर लम्बे लम्बे रेशोंकी मूंछें निकली हुअी कैसी शोभा देती ह!

पिताजीने मुझसे बाजार जाकर अेक अच्छा पका हुआ नारियल ले आनेको कहा। अिस नारियलको वर्षभर पूजामें रखा रहने दिया जायेगा। धीरे धीरे अुसके अन्दरका पानी सूख जायेगा; बादमें अन्दरकी गरी सूख जायेगी; और अुसका गोला नरेटीको छोड़कर अन्दर गुड़-गुड़ बजने लगेगा। नारियल कच्चा हो तो अन्दरकी गरी सड़ जायेगी और अगले वर्ष मंगेश महारुद्रका प्रसाद नहीं मिलेगा; अिसे अशुभ माना जायेगा — अिन सब बातोंका खयाल रखकर मुझे बहुत सावधानीके साथ पका

नारियल पसन्द करना था। मैंने बाजारमें जाकर सौ-दो-सौ नारियल परख कर अुनमें से अेक अच्छा-सा नारियल पसन्द किया। गोल नारियलसे लंबगोल ज्यादा अच्छा होता है। अुसमें गरी ज्यादा होती है और वह अधिक टिकता भी है।

नारियल घर लाकर मैंने अुसके अनावश्यक छिलके निकाल डाले। अितनी सावधानी रखी कि आंखोंके नीचे और मुंहके अूपरकी मूंछें अुखड़ने न पायें। फिर टाटका टुकड़ा लेकर नारियलको घिस-घिस कर चिकना बनाया। बादमें नहा-धो कर मैं पिताजीको पूजामें मदद करनेके लिअे जा बैठा। सब देव तांबेके बरतनमें नहानेके लिअे अुतरे। अुनके सिर पर अभिषेक-पात्रसे पानीकी धार बांधी गयी। पिछले वर्षका नारियल अेक वर्षकी पूजासे काला, चिकना और चमकदार हो गया था। अुस नारियलको अभिषेक-पात्रके नीचे रखा गया था। अभिषेककी मुख्य धारा अुसके ही अूपर पड़ती थी। अिस वर्षका नया नारियल अुसके बाजू पर था। पुराना नारियल अभी गद्दी पर ही था, अिसलिअे वह बीचमें था। दूध, दही, घी, मक्खन, शहद और चीनीके पंचामृतसे स्नान हुआ। बादमें 'अुष्णोदक' आया। अुसके बाद सब देवोंने 'शुद्धोदक' से स्नान किया। मैंने पवित्र 'धौत' वस्त्रसे सब देवोंको पोंछा और देवघरमें अुन्हें अपने-अपने स्थान पर बैठा दिया। अब मुख्य स्थान पर, आसनके अूपर नया नारियल रखा। पुराना नारियल अुसके पास लेकिन नीचे रख दिया। फिर पिताजीने देवोंकी पूजा की। 'वस्त्रार्थे अक्षत' अर्पण करके देवोंको चन्दन लगाया। हरिद्रा, कुमकुम आदि चढ़ाये। बादमें फूल चढ़ाये — महादेव पर सफेद, गणपति पर लाल और देवी पर सुवर्ण-चंपक (चंपाके पीले फूल)। सूर्यको सूर्यमुखीका फूल अर्पित किया। बादमें महादेव पर तीन दलवाले बेलपत्र, विष्णु पर तुलसीदल, गणपति पर दूर्वादल और देवी पर पत्री अर्थात् तरह तरहके नये पत्ते चढ़ाये। फिर विधिवत् धूप, दीप, नैवेद्य आदि सब हुआ। पुराने नारियलके स्थान पर नया नारियल गद्दी पर बैठा और नये धार्मिक वर्षका आरम्भ हुआ। अुस दिन दोनों नारियलोंकी पूजा हुअी।

दूसरे दिन अभिषेकके लिअे केवल नया नारियल ही था। पुराना नारियल अेक ओर रख दिया गया और पूजाके अन्तमें अुसे फोड़ा गया।

अन्दरकी सूखी गरी अच्छी निकली। भोजनके बाद घरके सब लोगोंको अुसका अेक-अेक छोटा टुकड़ा प्रसादके रूपमें दिया गया। जो गांवके बाहर थे अुन्हें भी डाकके जरिये अेक-अेक टुकड़ा भेजा गया। कुटुम्बियोंमें अेक व्यक्ति भी अिस प्रसादसे वंचित नहीं रहता था।

आगे चलकर जब मैं कॉलेजमें गया और अीश्वर पर से मेरा विश्वास अुड़ गया और मैं मन्दिर जाने तथा पूजा करनेमें पाप मानने लगा, तब भी घरसे जब कुलदेवताका यह प्रसाद आता तो अपनी नयी मान्यता और जोशको अेक ओर रख कर भक्तिपूर्वक गरीके अुस टुकड़ेको मैं ग्रहण करता और मनमें मानता कि यह निष्ठा अीश्वरके प्रति नहीं है, सनातन कालसे चलती आयी कुल-परंपराके तत्त्वके प्रति है। मैं यह भी मानता था कि अिस परंपराको आगे चलाकर आनेवाली पीढ़ी तक पहुंचाना होगा।

अेक वर्ष नारियल कच्चा आया होगा। अुस वर्षके अन्तमें अुसे फोड़कर देखा गया तो अन्दरकी सब गरी सड़ गयी थी। यह देखकर पिताजी बहुत दुःखी हुअे और चिन्ता करने लगे कि अगला वर्ष कैसा बीतेगा। मैंने अपनी बुद्धि चलायी और कहा कि नारियलका अन्दरसे सड़ जाना बताता है कि हमारा पिछला वर्ष खराब बीता। और बात भी ठीक थी।

मेरी अिस दलीलके कारण आगामी वर्षके सम्बन्धमें पिताजीकी चिन्ता दूर हो गयी और अिससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ।

बहुत बार सायंकाल मैं देवघरमें दीया जला कर ध्यान करने बैठता था। ध्यानमें कभी नारियलकी आंखें प्रसन्न दिखाअी देतीं और कभी बहुत क्रोधसे भरी हुअीं। अिसके अनुसार ही मैं प्रसन्न या दुःखी हो जाता था, और अुत्कट प्रार्थना करता रहता था। प्रार्थनाका असर होता और मुझे अैसा लगने लगता मानो वे आंखें फिरसे प्रसन्नताके साथ देखने लगी हैं। मैं जानता था कि यह सब मनका खेल है, फिर भी मन पर अिसका कम असर न होता था।

अैसी सब कल्पनाके कारण मेरा मन कमजोर पड़ता था या श्रद्धा-शक्ति बढ़ती थी, यह आज कह नहीं सकता। मुझे लगता है कि दोनों वृत्तियां अेक साथ पोषित होती थीं। बचपनमें मैं अैसे वातावरणमें पला अिसका मुझे दुःख नहीं है, बल्कि सच्चा संतोष है।

फिर भी मैंने अपने लड़कोंके लिअे न तो अैसा वातावरण तैयार किया और न अुसकी अिच्छा ही की। अुनकी माताकी ओरसे जरूर अुन्हें थोड़ा-बहुत मिला; और अुसका असर अच्छा ही हुआ है।

ब्रह्मदेवके बनाये हुअे हम मनुष्यों और विश्वामित्र अृषिके बनाये हुअे नारियल-रूपी मनुष्योंको मिला कर कोंकणकी सृष्टि हुअी है। हमारे लिअे नारियलको कुलदेवके स्थान पर स्थापित करनेमें बहुत औचित्य है यह मैं आज देख सकता हूं।

१०

वह कंठी

अेक विचित्र अनुभव मुझे यहां लिखना है। जब यह अनुभव हुआ तब अैसा नहीं लगा था कि अिसके द्वारा धर्मका कोअी ज्ञान हुआ है। परन्तु आज लगता है कि अिसका असर धर्ममूलक ही था।

मेरे जन्मके पहलेकी बात है। अपने पिताजीकी धर्मश्रद्धाके बारेमें मैं अनेक बार लिख चुका हूं। अीश्वरने जो कुछ दिया है अुसमें सन्तोष मानो, खोटे रास्तेसे कोअी भी कमाअी न करो — यह अुनका कड़ा आग्रह था। परन्तु अिसमें अेक बार शिथिलता आ गयी थी। अिस सम्बन्धमें मांसे सुनी हुअी अेक बात मुझे याद आती है।

जैसा कि बहुतसे घरोंमें होता है, हमारे घरमें अनेक वस्तुअें अिधर-अुधर पड़ी रहती थीं। अेक बार मैंने अेक कोनेमें पड़ी हुअी अेक सोनेकी कंठी देखी। पुराने जमानेमें जिस तरह सोनेकी मोहर और 'पुतली' को सिक्केके रूपमें काममें लाया जाता था और जेवरोंमें भी लगाया जाता था, अुसी तरह सोनेकी 'वरी' (घुंडी) का भी अुपयोग होता था। मोहरका मूल्य दस या पन्द्रह रुपये होता था। यह सिक्का मोटा होता था। 'पुतली' पांच रुपयेकी और बहुत पतली होती थी। अुसके दोनों ओर प्राचीन कालकी कोअी छाप होती और ग्रीक अक्षर भी लिखे रहते थे। 'वरी' सोनेका चौरस, अठपहलू, ठोस दाना, जो जुवारसे

बड़ा नहीं होता था। किसी वस्तुका मूल्य चुकानेके लिअे ये दाने भी गिनकर दिये जाते थे। सोनेके तारमें गांठकर अिनका हार भी बनाया जाता था। अुस हारको कंठी कहा जाता था। अितनी सुन्दर सोनेकी कंठी अेक कोनेमें पड़ी हुअी देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। अुसे अुठा कर मैं मांके पास ले गया और बोला —"अितनी कीमती चीज कोनेमें कैसे पड़ी है?" मांके मुंह पर अेक विचित्र भाव छा गया। अुन्होंने कहा—"फेंक दे अुस भोंड़ी चीजको। वह सोनेकी थोड़े ही है। अुसके पीछे अेक किस्सा है। हम अच्छी तरह ठगे गये थे!" माकी बात पूरी भी नहीं हो पायी कि विष्णुने वहां आकर दबी हुअी आवाजमें कहा —"मुझे मालूम है, मुझे मालूम है। चोरीका माल खरीदने गये और अुसमें ठगे गये!"

मांने मुझे अपने पास बैठाकर कहा —"बैठ, तुझे बताती हूं। 'वे' (पिताजी) जब सरकारी नौकरीमें लगे अुस समय किसीकी पाअी भी हाथसे छूते नहीं थे। जब थोड़े दिनोंके लिअे वे कलेक्टरके मुंशी या हेड राइटर (अुस समय हेड क्लार्कको हेड राअिटर कहते थे) हुअे, तब अिनके मातहत अेक मुंशीने अिन्हें रिश्वत लेनेके लिअे ललचाया। अुसने अिनसे कहा कि 'पैसा लिये बिना कोअी नहीं रहता। आपको लेना नहीं आता हो तो मेरे अूपर छोड़ दीजिये। आपको किसीके साथ बातें भी नहीं करनी पड़ेंगी। मैं आपके हाथोंमें चुपचाप पैसा देता जाअूंगा। अुसे ले लीजियेगा और जब देनेवालेका मामला कलेक्टरके पास जाये तो अुनको अमुक ढंगसे बात समझा दीजियेगा। आपका किसीके साथ सीधा सम्बन्ध होगा ही नहीं और किसीको कोअी पता भी नहीं चलेगा। घरमें आयी हुअी लक्ष्मीको कोअी दुतकारता है?' अिन्होंने पहले तो 'नहीं' कह दिया; मुंशीकी बात सुनकर ही डर गये। परन्तु वह मुंशी चतुर था। रोज रोज अिनसे पैसेकी बातें करता था। अन्तमें ये राजी हो गये और अेक-दो बार अिन्होंने पैसा लिया भी। मनमें दुःख तो रहता था कि हमारे हाथोंसे खराब काम हो रहा है, परन्तु वह मुंशी रोज समझाता था कि 'अैसा पैसा तो सभी लेते हैं। हम किसीका कुछ काम करें और वह राजी-खुशीसे कुछ मेहनताना दे तो क्यों न लें? हम मार-कूट कर अुससे पैसा थोड़े ही वसूल करते हैं।'

"अिसी अरसेमें अेक आदमी अेक सोनेकी कंठी बेचने आया और अुसने सस्ते दामों बेचनेकी बात कही। अिन्होंने अुस भाअीसे पूछा कि 'सस्ती क्यों बेचते हो?' अुसने कहा—'अिससे तुम्हें क्या मतलब? अच्छी चीज सस्ती मिल रही है। लेनी हो तो लो, नहीं तो मैं यह चला।' अिन्होंने पूछा —'खरे सोनेका माल तो है न? नहीं तो तुम लोग हमें ही ठग लो!' अुसने अैसे चिढ़ कर अुत्तर दिया मानो घाव लग गया हो—'दिलजमअी कर लो। यह है मेरे पास 'वरकल' (कानड़ी भाषामें कसौटीके पत्थरको 'वरकल' कहते हैं)। मुझे कंठी बिगाड़नी नहीं है। मगर यह देखो अिसकी अेक 'वरी' अिस पत्थर पर घिसता हूं। अपने हाथके छल्लेको भी अिस पर घिस लो और दोनोंका रंग मिला लो। मेरा माल अगर अुन्नीसा भी हुआ तो अेक पाअी न लूंगा और यह कंठी यों ही तुम्हारे हाथमें देकर चला जाअूंगा।' कसौटी पर चढ़ाने पर 'वरी' खरी अुतरी—पूरी बावन कसकी निकली। अिन्होंने अुसे पैसा दे दिया और कंठी खरीद ली।

"थोड़े दिन बीत जाने दिये और फिर अिन्होंने वह कंठी हमेशा अपने घर आनेवाले सुनारको बताअी। सुनारने कहा—'वजनमें हलकी मालूम होती है। अिसमें कुछ गड़बड़ी है।' अुसने कसौटी निकाल कर दो-चार दाने परखे। सारेके सारे पीतलके थे। पीतल पर अेक प्रकारका पानी चढ़ा दिया गया था। अिन्हें विश्वास हो गया कि हम बेवकूफ बने। बिना कुछ बोले सुनारके हाथसे वह कंठी ली और सन्दूकमें डाल दी। दूसरे दिन जब पूजा पर बैठे थे, तब अिन्होंने मुझसे कहा, 'हरामका धन लेने गया था, अिसकी कुलदेवने सजा दी। जितना कमाया अुससे ज्यादा खो बैठा। अैसी दुर्बुद्धि मुझे कहांसे सूझी? संगति–संगदोषेण.... और क्या?'

"ये अितना पछताये कि फिर अिन्होंने अुस मुंशीको कोअी बात करने न दी। अिस कंठी पर अितने चिढ़े कि अिसे अेक कोनेमें फेंक दिया। मैंने ही अिसे अुठा कर सन्दूकमें रख दिया था। अिनकी नजरमें न पड़े अिसकी सावधानी रखती हूं, क्योंकि नजरमें पड़ती है तो ये सारे दिन अुदास रहते हैं। अिसे लेकर बाहर मत जाना। कोअी अिसके बारेमें पूछे तो क्या जवाब देंगे? घरकी शरम घरमें ही रहे यह अच्छा!"

मैंने वह कंठी ध्यानसे देखी तो अुसमें कहीं-कहीं काले दाग दिखलाअी पड़ते थे। मुझे भी लगा कि ये धातु पर पड़े दाग नहीं हैं, बल्कि हमारे कुटुम्बके चारित्र्य पर लगे दाग हैं। ये लालच और मूढ़ताके प्रतीक हैं।

जब मनुष्यको नुकसान अुठाना पड़ता है तब वह निश्चय करता है कि पापके रास्ते पर नहीं जाअूंगा, परन्तु बहुत समय तक अुसका यह निश्चय टिकता नहीं। वह बार बार लालचमें फंसता है। मेरे पिताजीने अेक भूलके पछतावेसे अितना चारित्र्य-बल प्राप्त कर लिया कि फिर वे कभी लालचके वश नहीं हुअे।

मांने यह सब मुझसे अैसे भावसे कहा मानो मुझे दीक्षा दे रही हों। अपने कुलकी अच्छी और बुरी दोनों ही बातें अपने लड़केको बतानी चाहिये; अिससे अुसके मनमें माता-पिताके प्रति अनादरका भाव नहीं पैदा होगा, बल्कि अुसे कुलके अच्छे-बुरे अनुभवोंकी अेक अच्छी विरासत मिलेगी — अिस विश्वाससे मांने बड़ी गंभीरताके साथ यह सारा किस्सा मुझे सुनाया। यदि वे मुझसे न कहतीं तो कुछ बिगड़नेवाला नहीं था, परन्तु यह बात विस्तारपूर्वक कह कर मांने मुझे कुल-परंपराकी मूल्यवान दीक्षा दी।

अपने पिताकी भी अेक बात मांने मुझे बड़े दुःखके साथ बताअी थी।

११

जतका शिक्षक

बालपनमें शालामें जो कविताअें रटनी पड़ती थीं, अुनमें ज्यादातर नैतिक अुपदेश ही होता था। हम जो कविताअें याद करते थे वे शालाके पाठके रूपमें। याद हो जानेके बाद ह्रस्व-दीर्घ साधकर अूंची आवाजसे रागमें गानेका आनन्द आता था। कहीं भोज हो तो अुसमें आधा-पौना भोजन हो जाने पर संस्कृत श्लोक बोलनेका रिवाज था। बड़े और छोटे सभी अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार गाते थे। कुछ लोग बांया हाथ गाल पर लगाकर गाते थे, कुछ सिर हिला हिला कर गाते थे। हम बालकोंको जोरसे गानेमें आनन्द आता था, परन्तु कविताके बोधकी ओर हमारा ध्यान अपने-आप नहीं जाता था।

शालाके अनेक शिक्षक कविताका अर्थ समझाकर सन्तोष कर लेते थे, परन्तु बहुतसे हमारे मन पर नीतिका बोध बैठा देनेके लिअे अुपदेशमय व्याख्यान देते थे। भले ही अुनकी रीति अधकचरी क्यों न हो, परन्तु नीतिका ही अुपदेश होनेके कारण मन पर अुसका अच्छा असर पड़ता था। शिक्षक जैसा अुपदेश करते हैं वैसा अुनका चारित्र्य भी है या नहीं, अिस ओर देखनेकी बात मुझे कभी सूझी ही नहीं। अिसमें अुदारताकी कोअी बात नहीं थी। अिस दिशामें दिमाग चलता ही नहीं था। कक्षामें यदि शिक्षक आज्ञा दे कि "खड़े होकर पैरका अंगूठा पकड़ो" तो वैसा करना ही पड़ता था। शिक्षक भी वैसा ही करता है या नहीं यह देखनेकी या जब शिक्षक अंगूठा पकड़ेगा तभी मैं भी पकड़ूंगा यह सोचनेकी बात जैसे मनमें नहीं आती थी, अुसी प्रकार यह देखनेका विचार भी नहीं आता था कि शिक्षक जैसा अुपदेश करता है अुसके अनुसार खुद चलता है या नहीं।

मुझे कहना चाहिये कि मेरे जमानेके शिक्षक अधिकांशमें अपने-अपने ढंगसे नीति पर चलनेके आग्रही थे। नहाना, तिलक लगाना, शामको मंदिरमें देव-दर्शनके लिअे जाना, भिखारीको भिक्षा देना, अेका-

दशीके दिन अुपवास करना — यह सब वे आग्रहपूर्वक करते थे। वे झूठ बोलते हैं या नहीं, यह देखनेका मौका तो हमें कैसे मिलता?

शालाके शिक्षककी आज्ञा तो माननी ही पड़ती थी। अुनके प्रति आदर रखना चाहिये यह भी अुसके साथ ही आ जाता था। अितना भर हम अपने-अपने मनमें तय कर लेते थे कि "जो मारता नहीं वह शिक्षक अच्छा, जो मारता है वह अच्छा नहीं।" परन्तु शिक्षकके चारित्र्यका विचार भी मनमें नहीं आता था।

अेक बार हम जत राज्यमें गये। जतका राजा नाबालिग था और अंग्रेज सरकारकी ओरसे नियुक्त अेक अेडमिनिस्ट्रेटर वहांका कामकाज चलाता था। वहांका हिसाब-किताब ठीक है या नहीं, यह जांच करनेका काम मेरे पिताजीको सौंपा गया था। पिताजीका काम सिर्फ अेक ही महीनेका था, फिर भी अुतने दिनोंके लिअे मुझे वहांकी शालामें भरती करा दिया गया था। राज्यकी मुद्रा-व्यवस्थाकी जांच करनेके लिअे आये हुअे अधिकारीके लड़केके तौर पर सहज ही मेरा रोब फैल गया। मैं मराठी चौथी कक्षामें रहा हूंगा। अेक दिन कक्षाके शिक्षकने मुझसे कहा — "तुम्हारे पिताजीको तो बहुत पैसा मिलता होगा?" मैंने अुत्तर दिया — "अितने रुपये तनखाह है।" अुन्होंने हंस कर कहा — "अिसकी बात कौन करता है? रिश्वतका पैसा तो बहुत मिलता होगा?" शिक्षककी यह बात मुझे अच्छी नहीं लगी। परन्तु मुझे यह बिलकुल नहीं सूझा कि शिक्षक जो कह रहा है अुसमें पिताजीका अपमान है, अैसी बात सहनी नहीं चाहिये, अुस पर नाराज होना चाहिये। मैंने सिर्फ अितना ही कहा कि "नहीं, नहीं, मेरे पिताजी रिश्वत बिलकुल नहीं लेते।"

शिक्षकने बेशरमीके साथ फिर कहा — "अरे जाओ! किसी कर्मचारीसे कोअी अपराध हो जाय तो वह दौड़कर घर आता होगा और कहता होगा — मुझे अिससे बचाअिये। फिर रुपयोंकी बड़ी-बड़ी थैलियां घरमें आती होंगी। और घर आयी हुअी लक्ष्मीको ठुकरा देनेकी हिम्मत किसकी होती है? चुपचाप थैलियां लेकर पेटीमें रख लेते होंगे।" कक्षाके लड़के भी अुतनी ही दिलचस्पीसे सब सुन रहे थे। मैंने अैसे तिरस्कारकी छाप किसीके मुंह पर नहीं देखी कि मेरे पिताजी

चारित्र्यहीन होंगे; अुलटे सब अिस खयालसे मेरी ओर देख रहे थे कि मैं कितना भाग्यशाली हूं!!

मुझे बहुत दुःख हुआ। मैंने बार-बार कहा कि मेरे पिताजी अैसे नहीं हैं। परन्तु शिक्षक माने क्यों? मैं नहीं जानता था कि अिसका अिलाज क्या किया जाये, अिसलिअे झुंझलाकर चुपचाप बैठा रहा। घरमें आकर पिताजीसे कहता तो वे शिक्षकको अच्छा सबक सिखा देते, अुसकी नौकरी चली जाती। शिक्षक कहता कि मैंने तो कुछ कहा ही नहीं, और कक्षाके लड़कोंकी गवाही भी देता। परन्तु अैसा कुछ करना चाहिये यह मेरे दिमागमें नहीं आया। केवल शिक्षकके प्रति मनमें अप्रीति आ गयी और कक्षाकी पढ़ाअीमें भी मन न लगने लगा। शिक्षक होकर अैसी बात करता है अिससे मुझे आश्चर्य हुआ, दुःख भी हुआ। मनमें अितनी बात बैठ गयी कि यह व्यक्ति शिक्षकोंके समाजमें शोभा देने योग्य नहीं है। अुस समय अितना तो मैं समझता था कि शिक्षकोंको विद्यार्थियोंके समक्ष अच्छा चित्र ही पेश करना चाहिये, अिसीलिअे जतके शिक्षककी बातसे मेरे मनको ठेस लगी।

१२

बालपनके देव – १

सनातनी ब्राह्मण-कुटुम्बका वर्ष मानो व्रतों, अुत्सवों और त्यौहारोंकी घटमाल ही होता है। हमारी दादीको घरके सामान्य व्यवहारमें बहुत रस नहीं रहा था। सुबह भोजन बना कर दस बजेके आसपास वे हम सबको खिला देती थीं और शामको अपनी 'दशमी' या 'थालीपीठ' अलग तैयार करके अकेली खा लेती थीं। मैं तो अुनके साथ लाड़ करके अुनकी थालीपीठमें हिस्सा बंटाये बिना रहता नहीं था। सब ओरसे निवृत्त दादी मेरे प्रति थोड़ा-बहुत पक्षपात रखती थीं और अपने निरक्षर जीवनके भंडारमें से मुझे धार्मिक कथाअें सुनाया करती थीं।

"महादेव अेक योगी हैं। अुनकी लाल-पीली जटायें सिरसे लेकर पैर तक लम्बी हैं। सारे शरीरमें वे भस्म रमाये रहते हैं। अेक बड़ा शंख

लिये हुअे भुम् भुम् भुम् आवाज करते हैं। अुनकी पत्नी पार्वती रूपका भंडार हैं। परन्तु अैसे बौरेके पीछे बावरी बन गयी हैं। महादेव श्मशानमें भटकते फिरते हैं और पार्वती देवी अुनकी सेवाके लिअे अुनके पीछे पीछे घूमती हैं।" — अैसे-अैसे शब्दचित्र दादी अपने छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा हमारे सामने खींचा करती थीं। अन्तमें मेरे मनमें महादेवका व्यक्तित्व बिलकुल स्पष्ट हो गया। क्षणमें प्रसन्न होनेवाले और क्षणमें कुपित होनेवाले और जरा 'क्षमस्व' कहा कि फिरसे बहुत प्रसन्न हो जानेवाले महादेव मुझे बहुत प्रिय हो गये। ब्रह्माके समान ये डरपोक नहीं हैं। राक्षसोंको युक्ति-प्रयुक्तिसे छलनेवाले और हरानेवाले विष्णुके समान ये चतुर भी नहीं हैं। ये तो भस्मासुरको भी मुंहमांगा वरदान देनेवाले हैं; और जब भस्मासुर पीछे पड़ गया तो जान बचाकर भागे! भोले शंकर पर मेरी विशेष भक्ति हो गयी। मनुष्य गृहस्थाश्रममें रहे तो महादेवके समान रहना चाहिये। स्त्रीको गरज होगी तो वह घर चलायेगी। बालबच्चोंके प्रति प्रेमभाव हो तो भी वह बताने जितना छिछला तो नहीं होना चाहिये — यह खयाल अस्पष्ट रूपसे मनमें बंध गया।

हमारे घरसे थोड़ी ही दूर अेक बड़ा कुआं था। अुसके पीछे अकाव (अकौड़ा) के कुछ पौधे अुग आये थे। आजी (दादी) कहा करती थीं — "दत्तू, अकौड़ाके फूल जितने मिलें लेते आना। हम हनुमान पर अुसकी माला चढ़ायेंगे।" मैंने अेक फूल तोड़ा और सूंघ कर देखा। अुसमें सुगंध नहीं थी। अिस पर आजीने कहा — "अब अिस फूलको फेंक दे। तूने सूंघ लिया तो अब अुसे हनुमान पर नहीं चढ़ाया जा सकता। यह तो तेरा जूठा हो गया।" मैंने अेक धार्मिक पाठ सीखा। भगवानको भोग चढ़ाना हो तो वह बिना चखा होना चाहिये। फूल चढ़ाना हो तो बिना सूंघा होना चाहिये। सूंघा कि वह अपवित्र हो गया। अुपभोग प्रत्येक वस्तुको मलिन करता है, अिस प्रकारकी मेरी धारणा हो गअी।

"परन्तु अैसा गंधरहित और औघड़ फूल हम हनुमान पर क्यों चढ़ायें? जुही, मोगरा, चम्पा, गुलाब जैसे सुन्दर सुन्दर फूलोंको छोड़कर यह अकौड़ाका फूल क्यों चढ़ाना चाहिये?" — मैंने दादीसे पूछा। अुन्होंने कहा — "तुझे मालूम नहीं? हनुमान बाल-ब्रह्मचारी हैं और वज्र-कौपीन

हैं। अुन्हें अैसे ही फूल अच्छे लगते हैं।" बाल-ब्रह्मचारी और वज्र-कौपीनकी दलील समझने लायक मैं बड़ा नहीं था। मैंने अितना ही अनुमान निकाल लिया कि हनुमान जरा विचित्र हैं, अिसीलिअे अुन्हें अैसे फूल अच्छे लगते हैं। हमने बहुतसे फूल अिकट्ठे किये। नाना (हम छह भाअियोंमें पांचवां) भी मददके लिअे आ गया। खासी लम्बी माला तैयार की। अब यह माला हनुमान कैसे पहनेंगे यह देखनेके लिअे मैं आजीके साथ मारुतिके मंदिरमें गया। तेल और सिन्दूरकी जमी हुअी परतवाली हनुमानकी मूर्ति मुझे अच्छी नहीं लगी; परन्तु मैंने सीखा था कि देवताओंके बारेमें मनमें अरुचि लाना पाप है, अिसलिअे मैंने अपनी सारी बालभक्ति अिकट्ठी करके हनुमानके प्रति श्रद्धा बढ़ाअी। सिर्फ अुनकी लम्बी पूंछ अैसी थी जिसको पसन्द करनेमें मुझे कठिनता नहीं हुअी। अुस समय कलाका खयाल ठीक-ठीक नहीं था, नहीं तो मैं जरूर कहता कि कलाकी दृष्टिसे पूंछके बिना शरीर अपूर्ण होता है। हनुमानकी पूजा पूरी हुअी और हमें प्रसाद मिला। बहुत करके सौंठ और खांड़का प्रसाद था। मैंने पूछा—"आजी, ये हमें प्रसाद किसलिअे देते हैं?" आजीने कहा—"मारुतिने नैवेद्य खा लिया। हमें अिसका पता नहीं चलता। जो बच गया है वह हम सब प्रसादके तौर पर खाते हैं।" मैंने पूछा—"हमें जूठा क्यों खाना चाहिये?" आजीने जवाब दिया—"मनुष्यका जूठा नहीं खाया जाता। मनुष्यके चखनेसे वस्तु अपवित्र हो जाती है। परन्तु भगवानके चखनेसे तो वह ज्यादा पवित्र हो जाती है। भगवानका प्रसाद तो मांग कर भी खाया जाता है।" बाजूमें बैठी हुअी अेक स्त्रीने अिसमें और जोड़ दिया —"पर प्रसाद मुट्ठी भरकर खानेका नहीं होता, हां! वह तो सिर्फ चखा जाता है।" प्रसादका तीखापन और अुसकी मिठास दोनों मेरे मुखमें काम कर रहे थे। भगवानके प्रसादमें दोनों ही स्वाद होते हैं, कुछ अैसा खयाल भी मेरे मनमें अुस समय बंधा होगा।

मंदिरमें अेक ओर अेक पुराणी अपनी पोथी खोले, अुसका अेक पन्ना हाथमें लिये समझा रहा था। अुसकी आवाज मंदिरकी छोटीसी गुम्बदमें गूंज रही थी। वह क्या कहता है सो तो मैं समझ नहीं सकता था, परन्तु अुसके सामने बैठी हुअी बहनें अेकाग्रतासे सुनती जाती थीं

और हाथसे पूजाके दीप तैयार करती जाती थीं; यह दृश्य मुझे बड़ा अच्छा लगा। कोअी बहन पुराण सुननेको मंदिरके अन्दर आती तो वह अेक गिलास भर चावल पुराणीके सामने डाल देती, कोअी मिश्रीके दो-चार डले रखती, कोअी अगरबत्ती सुलगाती और अेक-आध बहन पाअी-पैसा भी रखती। मैंने देखा पुराणी महाराज यह बतानेका प्रयत्न करते थे कि अुनके सामने क्या डाला जा रहा है अिस ओर अुनका बिल-कुल ध्यान नहीं है। मुझे आश्चर्य हुआ।

अण्णा बड़े मसखरे स्वभावका था। जब मैंने अुसको बताया कि मन्दिर जाकर मैं हनुमानको देख आया तो वह बोला—"तुझे मालूम है कि हनुमान नाकसे श्वास लेते हैं? कल जाकर अुनकी नाकमें अंगुली डालकर देखना। ठंडी-ठंडी हवा आयेगी।" अण्णा मेरा बड़ा भाअी। अुसके लिअे मेरे मनमें आदर था। जब अण्णा मारुतिका मजाक करे तो मैं क्या मानूं? आजीने चिढ़कर कहा—"जा जा! अैसी अंटसंट बातें करके बालकोंका मन मत भरमा।" अण्णाने हंसते हंसते आगे कहा—"मैं क्या हनुमानकी मसखरी करता हूं? मैं तो कहता हूं कि हनुमान जीवित हैं। वे नाकसे श्वास लेते हैं। अुनके आगे भोग रखो तो वे खाते तो नहीं पर सूंघ लेते हैं। अिसीलिअे तो भोगके लिअे रखी गयी वस्तुअें जब हम प्रसादके रूपमें खाते हैं, तो वे फीकी फीकी लगती हैं।"

हिन्दू-मानस विचित्र है। भगवानके प्रति अनन्य भक्ति होने पर भी अुनकी स्वतंत्रतापूर्वक मसखरी करनेमें बाधा नहीं होती। अपनी गाय या भैंस जंगलमें खो जाये तो मसखरा आदमी भी पूर्ण श्रद्धासे मनौती मानता है कि पशु वापस आ जाये तो अेक आनेकी मिश्री हनुमानको खिलाअूंगा। हनुमानकी मसखरी करनेवाले कितने ही अैसे लोगोंको मैंने देखा है जो जीवन भर शनिवारको अुपवास करनेमें नहीं चूके।

१३

बालपनके देव – २

मेरे दूसरे परिचित देव थे 'ढोल्या गणपति'। मेरे बचपनमें अधिकारियोंकी पत्नियां टोली बनाकर मंदिर जानेमें शोभा मानती थीं। शामको जब मंदिरमें जाना हो तो मां अच्छेसे अच्छे कपड़े पहनकर, शाल ओढ़कर और सब गहने पहनकर दूसरी बहनोंकी राह देखती थीं। जितनी बहनें आतीं अुतने पटावाले (नौकर या चपरासी) तो होते ही। मैं भी कभी-कभी अुनके साथ मंदिरमें जाता था। पटावालोंके संरक्षणमें बहनोंका अैसा मनोरम समूह चलता देखकर मुझे मजा आता था। परन्तु कोअी जल्दी जल्दी चलता ही नहीं था। मैं आगे जाता और फिर पीछे लौटता। मैंने मांसे शिकायत की कि "अितनी देरमें तो मैं तीन बार मंदिर जाकर लौट आता।" मांने कहा — "बड़े लोग अुतावलीसे नहीं चलते। चलते हैं तो बुरा मालूम होता है।" मैंने पूछा — "परन्तु मां, मंदिर जाते समय तुम अितने सारे गहने क्यों पहनती हो?" मां हंस पड़ीं और बोलीं — "भगवानने जो बरकत दी हो वह अुनके सामने छिपानी नहीं चाहिये। मैं मंदिरमें जाकर गणपतिसे कहती हूं कि तुम्हारी कृपासे ही मुझे ये सारे कपड़े और गहने मिले हैं। तुम्हारी कृपासे ही मेरे बच्चे अच्छे निकले हैं। बच्चे बड़े हों तब अुन्हें मुझसे भी ज्यादा देना!"

'ढोल्या गणपति' की मूर्ति अच्छी अूंची थी। हम वहां पहुंचे तो पुजारीका लड़का हमें चरणामृत देने आया। चरणामृतमें चंदन, खांड़, शहद आदिकी कुछ-कुछ महक आती थी। मैंने मांसे पूछा — "अितना छोटा लड़का गणपतिको कैसे नहलाता और चन्दन लगाता होगा?" किसीने कहा — "गणपतिकी तोंद बाहर निकली हुअी है न? अुसके अूपर चढ़कर यह गणपतिको नहलाता है।" सब लोग हंस पड़े और मानो मेरी ही फजीहत हुअी हो अिस प्रकार मैं वहांसे खिसक गया।

गणपति चूहेकी सवारी करते हैं। अुन्हें मोदक बहुत अच्छा लगता है। वे बुद्धिके देव हैं। पढ़ाअीका आरम्भ अुनके नामसे ही करना चाहिये। अेक दिन मोदक खाकर चूहेके अूपर सवार हुअे गणपति अपना तौल संभाल न सके और नीचे गिर गये। यह देखकर आकाशमें चन्द्र हंसा। गणपति चिढ़ गये। अुन्होंने अपना अेक ओरका लम्बा दांत तोड़कर चन्द्रके अूपर फेंका और अुसे शाप दिया कि तेरा मुंह कोअी न देखे। चन्द्र घबराया, पछताया और रोने लगा। अुसने गणपतिसे शाप-निवारणकी प्रार्थना की। गणपतिको दया आअी। अुन्होंने कहा—"वर्षमें अेक ही दिन—भादों सुदी चौथको—तेरा दर्शन अमंगल माना जायेगा। अुस दिन जो-कोअी तेरा दर्शन करेगा अुसे चोरीका कलंक लगेगा।" अिसका प्रताप देखना हो तो जंगलमें जाकर देख लो। वहां जंगली सुअर भी गणेश-चौथके दिन अिस डरसे कि कहीं चन्द्रके दर्शन न हो जायें, झांड़-झंखाड़में सिर छिपाकर बैठ जाते हैं। यह सब सुनकर मैंने पूछा—"और यदि भूले-चूके अुस दिन चन्द्रका दर्शन हो ही जाय तो?"

"तो अिसका अिलाज है। किसी पड़ोसीके घर पर पत्थर फेंकना चाहिये। पड़ोसी चिढ़कर गाली दे तो अुससे चोरीका कलंक टल जाता है!"

जैसा भय वैसा अुसका परिहार, जैसा समाज वैसे अुसके देवता! अिसीलिअे तो आदिकवि वाल्मीकिने कहा है—"यद्-अन्नः पुरुषो भवति तद्-अन्नास् तस्य देवताः।" मनुष्य जैसा आहार करता है वैसा ही आहार करनेवाला अुसका देवता भी होता है।

आज तो अिन सब पौराणिक वार्ताओंको रूपकोंके समान समझनेका मन होता है। अुनमें भी जब तक रूपकका मेल नहीं बैठ जाता, तब तक असंतोष बना रहता है। बचपनमें अैसा नहीं था। अुस समय सारा समाज भी भोला था। देवोंमें केवल शक्ति हो, भक्तोंका रक्षण करनेकी चिन्ता हो तो बस था। अिसके अुपरान्त देवोंका चारित्र्य अूंचा होना चाहिये, अुन्हें पक्षपात-रहित न्यायी होना चाहिये, अिस सबकी अपेक्षा नहीं रखी जाती थी। देवोंको बहुत शुद्ध करनेका प्रयत्न करनेसे अुनमें किसी प्रकारका व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता। अैसा करते

करते ही वेदान्तका अीश्वर निर्गुण निराकार हो गया होगा। समाजके बाल्यकालमें देवगण समाजकी श्रेष्ठ विभूतियोंकी संशोधित आवृत्तियोंके समान ही होते हैं। और अिसीलिअे देव अितने प्रिय हो जाते हैं।

और अुच्च दृष्टिसे जांच करने पर कौन कह सकता है कि आज हमारी, प्रौढ़ लोगोंकी, अीश्वरके सम्बन्धमें जो मान्यताअें हैं, वे अीश्वरकी और अुसके सच्चे स्वरूपकी यथार्थ परिचायक हैं ही?

अेक दिन तीन असावधान मनुष्योंने अेक 'मुंगूस' (नेवला) देखा। किसीको भी अुसका सच्चा नाम नहीं मालूम था। अेकने कहा — "देखो, वह 'सुमंग' जा रहा है।" दूसरेने कहा — "तू कैसा जंगली है! अिसे कोअी सुमंग कहते हैं? यह तो 'मुसंग' है।" तीसरा बोला —"बलिहारी है तुम्हारे दोनोंके ज्ञानकी! कभी शास्त्र पढ़ा था? अिसका नाम तो 'घुम्मस' है।" सुमंग, मुसंग और घुम्मसके बीच खूब झगड़ा चला और सच्चा नाम 'मुंगूस' अन्त तक किसीको सूझा ही नहीं!

भोले लोगोंकी अीश्वर-विषयक भोली कल्पनासे चिढ़नेवाले लोगोंको जानना चाहिये कि कदाचित् वे भी अीश्वर-संबंधी सच्ची कल्पनासे अुतनी ही दूर होंगे। छत पर खड़ा हुआ मनुष्य रास्तेके मनुष्य पर हंसे और कहे कि "देखो, मैं तुमसे सूरजके कितना ज्यादा नजदीक हूं," तो यह जैसा हास्यास्पद होगा वैसा ही हास्यास्पद अुन लोगोंका चिढ़ना होगा। लोगोंका अज्ञान हमें जरूर दूर करना चाहिये, अुसे वहम और ढोंगोंके समान ही त्याज्य मानना चाहिये। परन्तु भोले समाजकी भोली कल्पनाओंके विषयमें हमें समभाव रखना चाहिये; अितना ही नहीं, बल्कि अुसके पीछे रहनेवाली स्थूल परन्तु ठोस धार्मिकताकी कदर भी करनी चाहिये।

गणपतिकी सुन्दर मूर्ति घरमें लाकर, तीन दिन अुसकी षोडषोपचार पूजा करके, अन्तमें जब अुसे कुअें या तालाबमें विसर्जित कर देते थे, अुस समय चित्त अुदास हो जाता था और हम बालक जोरसे बोलते थे — "गणपति बाप्पा मोरिया, पुढच्या वर्षी लवकर या!" (हे गणपति बाबा, हे मोरिया, अगले वर्ष फिर जल्दी आना!)

१४

गद्य प्रार्थना ही हृद्य प्रार्थना

बचपनमें मैंने सच्ची प्रार्थना सुनी, सो अपनी मांके मुंहसे। अुसमें कविता नहीं थी--"भगवान मंगेश बाबा, महारुद्र! हम अज्ञान हैं, हम कुछ समझते नहीं। हमारे हाथोंसे तुम्हारी सेवा भी नहीं होती। हमें क्षमा करो! हमारे अूपर जो संकट आये हैं अुन्हें दया करके दूर करो और सबको सद्बुद्धि दो! जितनी भी जल्दी हो सकेगा हम बारह ब्राह्मणोंकी समाराधना करेंगे--अुन्हें भोजन, दान-दक्षिणादि द्वारा प्रसन्न करेंगे। अेक लघुरुद्र करेंगे, तुम्हारी सेवाके लिअे 'घाटाखाली' (सह्याद्रि पर्वतकी तलहटीमें मंगेश महारुद्रका स्थान) आयेंगे। सबका भला करो!" अिस प्रकारकी अुनकी प्रार्थना होती थी। घरमें कोअी बीमार पड़ता या कोअी कठिनाअी पैदा हो जाती, तो देवघरमें मांके मुहसे अिस तरहकी प्रार्थना मुझे अचूक सुननेको मिलती। वस्तुस्थितिके साथ मेल खानेवाली और हृदयके भावोंको जैसाका तैसा व्यक्त करनेवाली अिस गद्य प्रार्थनाका असर मेरे मन पर बहुत गहरा होता था। बादमें मनमें यह विश्वास पैदा होता कि अब हम सुरक्षित हैं, जो संगीतमय आरतियां गानेसे कभी पैदा नहीं होता था।

सन् १८९९ में जब हम पहले-पहल कोंकणमें 'घाटाखाली'--मंगेशी गये, अुस समय गांवमें पहुंचते ही प्रचलित प्रथाके अनुसार हमने 'धूलभेंट' का कार्यक्रम पूरा किया। शरीर और पैरोंकी धूल झाड़े बिना यात्री लोग दर्शनकी अुत्कंठासे मंदिरको दौड़ते हैं और देवताका दर्शन करते हैं, अुसे 'धूलभेंट' कहा जाता है। हमने मंदिरमें पहुंचकर अपने पुरोहितके पास खबर भेजी कि हम आ गये हैं, हमें भगवानके पास ले जाओ। भगवानके दरबारमें परिचय करानेवाला तो कोअी होना ही चाहिये न? पुरोहित हमें भगवानके सामने ले गया और अुसने कहना शुरू किया--"देव! महाराज! ये बालकृष्णराव कालेलकर तुम्हारे दर्शनके लिअे सकुटुम्ब बेलगांव-शाहपुरसे आये हैं। कुछ दिन तक तुम्हारी सेवाके लिअे रहेंगे। अिनकी सेवा स्वीकार कर लो और

अिनका भला करो।" अितना कहकर पुरोहितने भगवानके सामने हमारा नारियल रखा। बादमें अुसे फोड़कर अुसकी अेक कटोरी अपने लिअे रखकर दूसरी कटोरीमें फूल, तुलसीदल, बेलपत्र आदि प्रसाद रखकर कटोरी हमारे हाथमें दे दी। कैसी धन्यता थी अुस रोजकी! मनमें लगता था कि भगवान सचमुच ही यह सब सुनता है और कृपालु होकर अिसके अनुसार करता है।

बादमें मैं भी मन ही मन अैसी प्रार्थना करने लगा।

मैं कहीं कह चुका हूं कि मेरे पिताजी श्रावण महीनेके पहले सोमवारके दिन कुलदेवको लक्ष्य कर अेक पत्र लिखा करते थे, और अुसमें वर्षभरमें हुअी सब कौटुम्बिक घटनाओंका अुल्लेख करते थे। अुसका भी मेरे मन पर गहरा असर हुआ, यद्यपि अैसे पत्र लिखनेके बारेमें पिताजीका अनुसरण करना मुझे नहीं सूझा। यदि सूझा होता तो, और कुछ होता या न होता, परंतु कुटुम्बका अितिहास संक्षेपमें जरूर मिल जाता।

पिताजीके लिखे हुअे अुन पत्रोंको पढ़नेसे मेरे मन पर जो गहरी छाप पड़ी वह यह थी कि हम अनाथ नहीं हैं। अेक सर्वसमर्थ सत्ता हमारी देखभाल करती है। अुसकी अिच्छा और व्यवस्थाको हम जानते नहीं। हमारे लिअे क्या हितकर है और क्या हितकर नहीं है, यह हम स्वयं नहीं जानते। अपनी भावनाओंके अनुसार हम सुखी या दुःखी होते रहते हैं। जो घटना हमें घातक प्रहारके समान लगती है, वह अनिष्ट ही होगी अैसा माननेके लिअे कोअी कारण नहीं है। जब मेरी बहनका देहान्त हुआ और मैंने प्रार्थनामें सुना कि भगवानने अुसे अपने पास बुला लिया, तो मुझे लगा कि 'अक्का' के जानेका दुःख तो हमें जरूर है, परन्तु अुसका तो अश्रेय नहीं हुआ। भगवानको देखकर अक्काको कितना आनन्द मिला होगा! अेक दिन मनमें विचार आया कि "भगवानके पास जाकर वापस क्यों नहीं आया जा सकता? आज अगर अक्का वापस आकर भगवानके यहांकी बातें करे तो कितना आनन्द हो!" दूसरा विचार मनमें आया कि "हमें यह मानकर चलना चाहिये कि भगवान जो करता है वही अच्छा है।"

मेरी कल्पनाओंमें बनाव-बिगाड़ होता ही रहता था। भगवानसे कुछ भी मांगता तो फौरन मनमें विचार आ जाता कि वह तो सब-कुछ जानता है। जो ठीक होगा, वह करेगा ही। पहले अेक तरहसे मांगता, फिर अुसमें कमी देखकर अपनी मांगमें सुधार करता। अुसमें भी दोष दिखाअी देता, अिसलिअे फिर अुलझनमें पड़ जाता। अन्तमें थककर कहता —"मुझे मांगना आता ही नहीं, और अिच्छा करना भी नहीं आता। केवल श्रद्धा रखकर बैठा रहूं तो क्या बुरा है?"

बचपनमें ही विकसित हुअी अिस वृत्तिके कारण सकाम प्रार्थना तो मैंने दो-तीन बार ही की होगी। परन्तु जब मुझसे कोअी बड़ी भूल हो जाती तो प्रार्थना करके वचन देता कि "देव, अब फिरसे अैसी भूल न करूंगा। जो हो गया है अुसे क्षमा करना। भूलके लिअे सजा देनी हो तो दे, परन्तु मनमें तो क्षमावृत्ति ही रखना। क्षमायुक्त सजा मिले तो मैं शांतिसे भोगूंगा। मेरी कायरताको पोषण न देना, परन्तु तेरी क्षमाका अनुभव तो मुझे होना ही चाहिये।"

१५

आरती

धर्मानुभव प्राप्त करनेकी प्रक्रियाको साधना कहते हैं। यह साधना जितनी बाह्य होती है अुतनी ही स्थूल होती है। सच्ची साधना तो आन्तरिक ही होनी चाहिये। गहरे अुतर कर देखें तो निश्चय हो जायेगा कि धर्मानुभव प्राप्त करनेका सच्चा साधन तो अपना पूरा जीवन ही है। जीवनका प्रत्येक अंग और अुसका प्रत्येक क्षण हमें धर्मानुभवकी ओर ही ले जाता है। यदि हम अिसे अनुभवको अनावश्यक मानकर अथवा गफलतके कारण नष्ट न कर दें और जाग्रत रहकर अिसका संचय करते रहें, तो अनुभवकी पूंजी बढ़ती जाती है, समृद्ध होती है। और जिस प्रकार व्यवहारमें पूंजी हमें ब्याज देती है अुसी प्रकार धर्मानुभवका विचारपूर्वक संग्रह करनेसे यह संग्रह भी अेक विशेष प्रकारका धर्मानुभव बन जाता है और अिसमें से नअी नअी वस्तुअें निथरती हैं।

यह बात मेरे मनमें बैठी प्रार्थनासे। प्रार्थना अधिकांशतः बिना अर्थकी यांत्रिक कवायद जैसी दिखलाओ पड़ती है और बहुधा वैसी होती भी है; फिर भी, मेरे बालपनमें कौन जाने किस प्रकार वह मेरे लिअे जीवित वस्तु बन गओ थी।

पिताजी पूजाके अन्तमें प्रार्थना करते थे, परन्तु मनमें ही। कभी कभी अुनका भक्ति-गद्‌गद चेहरा मेरी दृष्टिमें पड़ता था, परन्तु अुसका अर्थ मैं समझता नहीं था।

अुत्सवोंके अवसर पर, पूजाके अन्तमें, हम सब बालक ताली बजा कर आरतीके पद गाते थे, यही हमारी पहली प्रार्थना थी। ये आरतियां मराठीमें होती थीं, फिर भी अुनके अर्थकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता था। अुच्चारणमें भूल न हो और ताल ठीक बैठे — बस अितनी ही आतुरता रहती थी। और फिर भी, हम भगवानका कोओी प्रिय काम कर रहे हैं, अपना कर्तव्य पूरा कर रहे हैं, अिससे हमें पुण्य मिलेगा, आदि भावनाअें मनमें अुठतीं और लम्बे समय तक टिकी रहती थीं। अिन आरतियोंमें अिस अर्थके वचन होते थे — "हम भवसागरमें डूबे हुअे हैं, संकटमें फंसे हुअे हैं, अिससे अुबारनेवाला और कोओी नहीं है, विघ्नोंसे हम घिरे हुअे हैं।" जब अर्थ समझमें आया तब भी ये संकट, ये विघ्न और भवसागर-में डूब जानेकी बात हमारे लिअे कोओी अर्थ नहीं रखती थी। आरतीमें व्यक्त की गओी भावनाओंको सिर्फ ओढ़ लेनेका हम कभी कभी प्रयत्न भी करते थे, परन्तु अुससे कोओी सार नहीं निकलता था। मुझे तो अैसा ही लगता था कि ये कवि भावना-गद्‌गद हुअे बिना व्यर्थ ही शब्दोंका तुक जोड़ देते होंगे। मैंने अपने बालपनमें धार्मिक काव्योंकी तुकबन्दी करने-वाले अनेक कवियोंका रचनानन्द देखा था और यह भी देखा था कि अुनकी रचनाओंमें भावनाओंका बिलकुल अभाव है। अिससे भी मेरा यह मत ठीक ही अुतरता है कि ये सब तुकबन्दियां थीं। आज भी मैं अिसी प्रकारकी कितनी ही कवितायें देखता हूं। आगे चलकर जब मुझे समर्थ रामदास स्वामीके करुणाष्टक सुननेको मिले, तो भीतरसे अैसा लगा कि कमसे कम यह कवि सच्चा मालूम होता है। यह सचमुच भावना-गद्‌गद हो गया है। तुकारामके अभंग भी अिसी प्रकारके प्राणमय वचन मालूम होते थे।

पांडव-प्रताप, रामविजय आदि ग्रंथोंमें जो प्रार्थनाअें मिलती थीं अुनमें अनेक बार मन तल्लीन हो जाता था। अनेक बार आंखोंमें आंसू भी आ जाते थे। परन्तु सामान्य भजन तो तुकबन्दी ही मालूम होते थे। (आज अुन्हें मैं तुकबन्दी न कह कर भाषा-विलास अथवा कल्पना-विलास कहूंगा)।

जब सन्तोंके चरित्र सुननेका अवसर मिला, तभी प्रार्थना मेरे लिअे जीवित वस्तु बनी। मुझे अैसा लगा कि संत अिस बातके लिअे आतुर रहा करते हैं कि हमारे जीवनका सदुपयोग हो। जीवनको भगवानमय बनानेकी अुन्हें धुन लगी मालूम होती थी। अुनके प्रति मनमें जो आदर और भक्ति-भाव जागता वह सब अुनकी प्रार्थनाके साथ जुड़ जाता। अिस प्रकार सन्तोंके जीवनसे प्रार्थनाके स्वरूपका साक्षात्कार होने लगा। अच्छा हुआ कि बचपनमें मुझे प्रार्थनाका महत्त्व समझानेवाले प्रवचन सुननेको नहीं मिले। सन्तोंका जीवन ही प्रार्थनाका रहस्य प्रकट करनेवाली दीपिका था। मैं हृदयसे प्रार्थना करने लगा।

टिप्पणी : संस्कृतमें 'आर्ति' का अर्थ है संकट। 'दुःखतप्तानाम् प्राणिनाम् आर्तिनाशनं कामये' अर्थात् मैं कामना करता हूं कि दुःखसे पीड़ित प्राणियोंका संकट दूर हो। 'आर्त' का अर्थ है पीड़ित अथवा व्याकुल। अिस परसे भगवानके आगे दीया घुमा घुमा कर स्तुति करनेकी और संकट-निवारणके लिअे याचना करनेकी सारी प्रक्रियाको 'आर्तिक्य' कहा जाने लगा और अब तो भारतकी सभी भाषाओंमें 'आरती अुतारने' का अर्थ भगवानके सामने दीया घुमाना या नचाना हो गया है। अिसमें से संकटका भाव बिलकुल लुप्त हो गया है। युद्धमें विजयी हो कर जब वीर वापस आता है तब संकट-निवारण तो हो ही चुकता है। तो भी अुसके मानमें अथवा बखानमें आरती अुतारी जाती है।

संस्कृत साहित्यमें अिस प्रकारकी कल्पना सर्वत्र भरी हुअी दिखलाअी पड़ती है कि प्रार्थनाका अर्थ है भगवानसे कुछ याचना करना और मांगनेके पहले अुसे अनुकूल कर लेनेके लिअे अुसकी शक्ति और भलाअीकी स्तुति करना। यदि देव स्वयं पीड़ित हों और शंकर अथवा विष्णुके पास दौड़ें, तो वे सीधे यह नहीं कहेंगे कि "भगवान, दौड़िये दौड़िये, हमें

बचाअिये!" वे भगवानके दरबारमें जाकर विधिवत् मानपत्र पढ़नेके समान अपना सारा तत्त्वज्ञान भगवानके सामने अुंडेलेंगे और फिर जब अैसा लगे कि भगवान पूर्णतः प्रसन्न हो गये हैं तब धीरे धीरे अपनी अर्जी सुनायेंगे। अिसीका अनुकरण श्रीधर, महीपति आदि मराठी कवियोंने भी किया है। बिलकुल बचपनमें भी मुझे यह सब विचित्र अथवा प्रतिकूल-सा लगा था और मैं स्तुतिका भाग छोड़कर आगे पढ़ने लगता था।

आगे चलकर जब तत्त्वज्ञानमें रुचि पैदा हुअी तब मैं स्तुतिके पूर्वार्धको भी ध्यानपूर्वक पढ़ने लगा। परन्तु अब तक मैं स्तुति और याचनाके दोनों भागोंका समन्वय नहीं कर पाया हूं। और अिसलिअे हमारी बहुतसी प्रार्थनाओंके प्रति मेरा समभाव जाग्रत नहीं हुआ। फलतः मुझे स्वतंत्र रीतिसे अपनी निजकी प्रार्थना और प्रार्थनाकी मीमांसा तैयार करनी पड़ी।

१६

श्राद्ध

देव स्वयं खाते नहीं, सिर्फ सूंघ लेते हैं। और अितनेसे ही अुन्हें सन्तोष हो जाता है। परन्तु हमारा सूंघा हुआ फूल या हमारा चखा हुआ फल अुन्हें अर्पित नहीं किया जाता, अितना मैं सीख चुका था। आगे चल कर मैंने देखा कि त्योहारके दिन ब्राह्मणको बुलाकर अुसकी पूजा अगर की जाये और अुसे भोजन कराया जाये तो वह भी भगवानको पहुंचता है। भगवानके बदले ब्राह्मण खा सकता है, यह मेरे लिअे अेक बड़े महत्त्वकी खोज थी। मुझे यह जान कर अपना महत्त्व बहुत अधिक मालूम होने लगा कि मैं भी ब्राह्मण हूं और जब मेरा जनेअू हो जायेगा और 'देवकार्य' के लिअे मुझे भी कोअी बुलाकर खिलायेगा तो वह भगवानको पहुंचेगा। यह तो बड़ी सुन्दर व्यवस्था है। मेरा भी पेट भरे, मुझे भी स्वाद मिले और भगवान भी प्रसन्न हो जायें। मेरा जूठा फल भगवानकी पूजामें चढ़ाया नहीं जा सकता, परन्तु पूजा करके मुझे कोअी फल चखाये तो वह भगवानको पहुंच सकता है!

मेरे मनमें यह शंका भी नहीं अुठती थी कि यह अटपटी धर्म-व्यवस्था तर्कशुद्ध है या नहीं। वह अुम्र **परीक्षण करनेकी** नहीं होती, केवल **ग्रहण करनेकी** होती है। बड़े लोग जो-कुछ कहें, आप्तजन जो-कुछ कहें, वही सच है अैसी सरल व्यवस्था अुस समयके जीवनमें थी। घरमें ब्राह्मण भोजनके लिअे बैठते तो मैं बड़ी श्रद्धासे अुनकी ओर देखता। अुन्हें अीश्वरके प्रतिनिधिके रूपमें पहचाननेका प्रयत्न करता।

हमारे घरमें मंगेश (महादेव) और महालक्ष्मी हमारे कुलदेव थे। घरमें कोअी देवकार्य हो तो किसी गरीब ब्राह्मण और अुसकी पत्नीको बुलाया जाता था। अुनके बच्चे भी भोजन करनेके लिअे आते। गरीब आदमीके घरमें तंगी तो होती ही है। कभी कभी भोजनके बाद स्त्रीका मन थोड़ा पक्वान्न घर ले जानेको भी हो अुठता। परन्तु मांगनेमें शरम आती, अिसलिअे थालीमें परोसे हुअे पक्वान्नमें से थोड़ा-सा नजर बचा कर वह छिपा लेती और ले जाती। बादमें अुसकी निन्दा शुरू होती। मेरे मन पर अिस बातका बड़ा बोझा पड़ा। मैं जिसे कुलदेवी महालक्ष्मीकी प्रतिनिधिके रूपमें देखनेका प्रयत्न करता, अुसे ही घरके लोगों द्वारा चोर कहे जाने पर मैं अस्वस्थ हो अुठता। पूछता किससे? आखिर मैंने मांके सामने अपनी परेशानी प्रकट की। मांने कहा—"गरीबोंकी निन्दा नहीं होनी चाहिये। अीश्वरने हमें दिया है, हमें गरीबोंको देना चाहिये। हमने भगवानके नाम पर जो दिया है वह भगवानको मिलेगा ही। आगेसे जब अिस 'भटानी' (ब्राह्मणी) को बुलाअूंगी तो अुसे घर ले जानेके लिअे भी काफी पक्वान्न दे दिया करूंगी।" बस, बात खतम हुअी। मैंने अेक नया पाठ सीखा। किसीको अीश्वरका प्रतिनिधि बनाया जाये तो मनुष्यके रूपमें वह मिट नहीं जाता। अुसके गुणदोष रहते ही हैं। वह हमारी भावनाको डाकियाके जैसा अीश्वर तक पहुंचा भर देता है, अिससे अधिक कुछ नहीं।

बादमें मांने कहा—"देवकार्य हो तो चाहे जैसा ब्राह्मण बुलाया जा सकता है। अुसके गुणदोष जांचनेकी जरूरत नहीं। परन्तु पितृकार्य हो तो बात जुदी है। घरमें श्राद्ध या महालय (पितृपक्ष) हो तो अुसमें बुलाये हुअे ब्राह्मण हमारे पुरखोंके प्रतिनिधि बन कर बैठते हैं। अुन

सबको विद्वान और चरित्रवान होना चाहिये। अुनमें कुछ भी तपस्या न हो तो अुन्हें नहीं बुलाना चाहिये।"

मैंने पूछा: "अैसा क्यों?"

मांने जवाब दिया: "क्योंकि शास्त्रमें अैसा ही लिखा है। भगवान चाहे जैसे ब्राह्मणको सहन कर लेता है, पितर सहन नहीं करते।"

पूर्वजोंको मरनेके बाद भी भोजन कराना पड़ता है—भले ही बरसमें अेक-दो बार ही क्यों न हो। वे भी प्रत्यक्ष खाते नहीं, परन्तु 'यहां ब्राह्मण खायें तो पितृलोकमें पुरखोंको तृप्ति मिलती है', यह मैं सीखा। यह पितृलोक कहां होगा? वहां पितृगण किस तरह रहते होंगे? क्या आपसमें बातें करते होंगे? अूपरसे हम सबको वे देखते होंगे, हम अुन्हें अच्छा न लगनेवाला काम करें तो वे दुःखी होते होंगे, हमें शाप देते होंगे; अिसलिअे हमें अैसा कुछ नहीं करना चाहिये जो अुन्हें अच्छा न लगे; वे हमारे चौकीदार हैं— अिस तरहकी बातें मनमें अुठती थीं। मेरे शास्त्रग्रंथ और सन्दर्भग्रंथ थे मां और आजी (दादी)। मैं अुनसे पूछता था कि हमारे दादा कैसे होंगे? दूसरे पुरखोंको क्या क्या अच्छा लगता था? मांने कहा—"ये (मेरे पिताजी) जब छोटे थे तभी अिनके पिताजी गुजर गये थे। बुढ़ापेके कारण अुनकी आंखें चली गअी थीं। अेक बार अुनका पैर फिसल गया और वे कुअेंमें गिर कर मर गये। अिसलिअे हमें अुस समय भोजन करने नहीं बैठना चाहिये, जब कोअी 'पावा' (अेक प्रकारकी बांसुरी) बजाता हो। भोजन करते समय कोअी 'पावा' बजाये तो अुठ जाना चाहिये।" मैं कारण नहीं समझा। पूछा तो मांने जवाब दिया—"बात अैसी है कि जो लोग कुअेंमें गिर कर मरते हैं अुन्हें स्वर्गमें कुअेंसे कीचड़ निकालनेका काम दिया जाता है। अुन्हें आराम नहीं मिलता। जब कोअी 'पावा' बजाता है तो अुतनी देरके लिअे थके-थकाये वे अपनी कनपटी पर हाथ रखकर खड़े हो जाते हैं और आराम लेते हैं। अुसी समय वे देखते हैं कि हमारे वंशज क्या कर रहे हैं। अुस समय हम मजेमें बैठे भोजन करते रहें यह कितना खराब है?" मेरे दादाके बारेमें मेरे मनमें बहुत दुःख पैदा हुआ। मैं व्याकुल हो अुठा। मनमें निश्चय किया कि जब कोअी 'पावा' बजाता हो तब तो मैं किसी हालतमें भोजन करने नहीं बैठूंगा।

सभी लोग कहते थे कि हम देवोंको देख नहीं सकते, परन्तु देव सर्वत्र रहते हैं, वे हमें देख सकते हैं, अुनसे कुछ छिपा नहीं रहता। अब देवोंके साथ पितर भी जुड़ गये। अुनकी नजर भी हमारे अूपर होती है। मैं अितना और समझा कि हमारे हाथसे अैसा कुछ नहीं होना चाहिये कि कुलको कलंक लगे, नहीं तो पितर दुःखी होंगे।

जब थोड़ा और बड़ा हुआ तब यदि कोअी खानेकी चीज मैं बिना पूछे खा जाता तो डर लगता कि मां डाटेंगी। परन्तु अिस डरकी अपेक्षा यह डर अधिक मजबूत निकला कि पितरोंको अिसकी खबर हुअे बिना न रहेगी और वे दुःखी होंगे। यही मान्यता और यही भय कायम रहा होता तो कितना अच्छा होता!

श्राद्धके लिअे आनेवाले ब्राह्मणोंके प्रति मेरी विशेष भावना होती थी। अुन्हें पैर धोनेके लिअे गर्म पानी देनेका काम मेरा होता था। मुझे लगता था कि दिवंगत पुरखोंकी सेवा करनेका यह जो अवसर मिला है अिसे मैं क्यों जाने दूं।

सामान्य मनुष्य समझ नहीं सकता कि आध्यात्मिक नियम अटल हैं। अुसे तो अेक ही प्रकारसे ज्ञान हो सकता है; वह यह है कि अीश्वर हमारे आसपास सर्वत्र विराजमान है। मनुष्य जल्दी यह समझ नहीं सकता कि कुल-परंपरा प्रत्येक खानदानकी अमूल्य पूंजी है। परन्तु मरनेके बाद भी पितर जीवित रहते हैं, अुन्हें भोजन न दिया जाये तो वे भूखे रहेंगे; समाजके विद्वान और चरित्रवान ब्राह्मणोंको आश्रय देनेसे ही पितरोंकी सेवा हो सकती है, देवकार्य सचमुच दयाकार्य है — यह जिस तरीकेसे मनुष्य समझ सके अुस तरीकेसे लोकधर्मने समझा दिया है। अिस विषयमें कोअी शंका नहीं कि देवकार्य और पितृकार्य धर्मका बड़ा अंग है।

१७

जीवदया

मनमें अेक मंथन चल रहा था कि प्राणियोंको मरनेसे बचाना चाहिये या नहीं; और यदि यह निश्चय हो जाये कि बचाना चाहिये और बादमें बचाना ही अेक धंधा बन बैठे तो क्या किया जाये? अैसे ही समय हमारे बेलगुंदीके घरमें अेक बिल्लीने बच्चे जने। अुसके बच्चोंको ले-ले कर हम लोग खूब खेलते थे। अेक दिन कहींसे अेक बड़ा बिल्ला हमारी कोठरीमें घुस आया और अुसने अेकदम झपट कर हमारी बिल्लीके अेक बच्चेको पकड़ लिया। मैंने अुसे अेक लकड़ी मारी, मगर फिर भी वह बच्चेको ले ही गया। मैं दुःखी और अवाक् हो कर वहीं खड़ा रहा। परन्तु हमारे नारायण मामा बड़े जोशीले थे। अुन्होंने चिल्ला कर मुझसे कहा—"दत्तू, दौड़; अिस बच्चेको हम अभी भी बचायें!" मैं अुठूं अिसके पहले ही अुन्होंने बिल्लेका पीछा पकड़ा और अिधर-अुधर दौड़कर अुसे घेर लिया। बिल्लेने बच्चेको छोड़ दिया और खुद अपना जी लेकर भाग खड़ा हुआ।

बिल्ला सिर्फ अपने प्राण लेकर भाग गया होता तो कोअी हर्ज नहीं था, परन्तु अुसने बच्चेको छोड़नेके पहले अुसकी गरदन पर अितने जोरसे काट लिया था कि वह लगभग निष्प्राण हो गया। मामाने अुसे जिलानेका बहुत प्रयत्न किया, परन्तु कोअी आधा घंटा वेदना भोगकर वह मार्जारोंके वैकुंठलोकको प्रयाण कर गया।

मामा अुठे तब मैंने मन ही मन अपने आपको तरह-तरहसे धिक्कारा। मामाका रजोगुण कैसा समर्थ है कि अुन्होंने बिल्लेका पीछा किया, बच्चेको बचानेके लिअे अितना कष्ट अुठाया! मैं तो जहां-का-तहां बैठा रहा! मामा चिल्लाये तो मैं दौड़ा जरूर और बिल्लेको पकड़नेमें मदद भी की, परन्तु यह मेरी स्वयंभू प्रेरणा थोड़े ही थी?

बादमें जब बच्चा मर गया तो दूसरे प्रकारसे विचार चलने लगे। बच्चेकी आखिरी चीख सुनते ही मुझे रामाकी 'चान्नी'* याद आ गअी। अिस बच्चेको बचानेका प्रयत्न करके हमने क्या पाया? बच्चा तो मर ही गया। अिसलिअे मनमें विचार अुठा कि कुदरतकी व्यवस्थामें दखल देनेसे कोअी लाभ है क्या? अगर मैं बिल्लेको समझा सकता कि बच्चेको नहीं मारना चाहिये तो बात अलग थी। बिल्ला चूहेको खाये यह समझमें आने लायक बात है। वह अुसका भोजन है। परन्तु वह बिल्लीके बच्चेको खाता नहीं, मार कर फेंक देता है; तो फिर वह मारता किसलिअे होगा? प्रकृतिने अुसे जो यह वृत्ति दी है अुसके पीछे क्या हेतु होगा? अिस प्रकारके विचार करता करता मैं परेशान हो अुठा। कोअी ठीक जवाब नहीं मिला अिसलिअे समय समय पर ये विचार अुठते ही रहे। जीवन और मरण प्रकृतिका खेल है। चूहा हमें सताता है, अिसीलिअे हम घरमें बिल्ली पालते हैं। बिल्ली जब चूहेको खाती है तो हम अपने दिलकी भूतदयाको भोयरी करके खुश होते हैं। वही बिल्ली जब अपने बच्चेको मारती है तो हम अनाथकी सहायताको दौड़ पड़ते हैं; और जब वह पक्षीको मारती है तो हमारे काव्यात्माका हनन होता है। और जब वही बिल्ली मनुष्यके बच्चेको

---

* कोंकणी भाषामें 'चान्नी' गिलहरीको कहते हैं।

रामा लेखक महोदयके ममेरे भाअीका नाम था। जब सभी बच्चे थे, अेक दिन अुसने अेक गिलहरी पकड़ी और घरके सब बच्चे अुसे घेरकर अुसके अुछलने-कूदनेका आनन्द लेने लगे। गिलहरी जिधरसे निकलनेका प्रयत्न करती अुधर ही किसी-न-किसीको खड़ा देखकर लौट पड़ती। अिस प्रकार वह घेरेके बीचमें ही अुछलती-कूदती रही। सब बच्चोंको जब अिसमें खूब आनन्द आ रहा था ठीक अुसी समय अेक चील झपाटा मार कर गिलहरीको अुठा ले गअी। अुस समय गिलहरीने जो मर्मवेधी चीख निकाली अुसने अुस बालवयमें लेखकके हृदय पर गहरा आघात किया। बादमें चील अुसे लेकर अेक अूंचे वृक्षकी फुनगियों पर जा बैठी और अुसे काट-काट कर खा गअी। सब लोग असहाय होकर अुस दृश्यको मार्मिक वेदनाके साथ देखते रहे। अुस दृश्यने लेखकके हृदयके घावको स्थायी बना दिया। —अनुवादक।

नाखून मारती है तब——? (मेरे पिताजी जब बहुत छोटे थे तब अेक दिन पालने पर अेक बिल्लीने झपट कर अुनकी नाक और गालके बीचके भागमें, आंखके नीचे, पंजा मार दिया था। अुसकी निशानी अुनके मुख पर सारी जिन्दगी रही। अुसीसे मेरे विचारोंने यह दिशा पकड़ी थी)।

* * *

कोचरबके सत्याग्रह आश्रमकी बात है। स्वामी सत्यदेव आश्रमके मेहमान थे। रात होने पर दीयेके आसपास कीड़े अिकट्ठे हो जाते थे। बहुतसे गंधाते भी थे। अिन कीड़ोंको खानेके लिअे छिपकलियां आती थीं। कीड़ोंको बचानेके लिअे हम छिपकलियोंको भगा देते थे। सत्यदेवको यह ठीक न लगता था। वे कहते—"छिपकली कीड़ोंको पकड़ती है तो अुसे देखनेमें कितना मजा आता है! कीड़ोंका अुपद्रव कम करनेमें वह हमारी मदद करती है।" अेक बार अुनकी खड़ाअूंके नीचे दबकर अेक छिपकली मर गअी तो अुन्हें दुःख हुआ—जीवहत्याका नहीं, लेकिन अुपयोगी छिपकलीके मर जानेका!

किसीने सारी बात बापूजीसे कही और जीवोंको बचानेके धर्मकी चर्चा छेड़ दी। बापूजीने जो जवाब दिया अुसके लिअे मैं तैयार नहीं था। अुन्होंने कहा—"सभी प्राणियोंको बचानेका हमारा धर्म नहीं है। छिपकली कीड़ोंको खाती है यह क्या अिससे पहले मैंने कभी देखा नहीं? छिपकली अपनी खुराक ढूंढ़ती है अिसमें—अर्थात प्राकृतिक व्यवस्थामें—दखल देनेका मैंने अपना कर्तव्य नहीं माना। जिन जानवरोंको हम स्वार्थके लिअे या शौकके लिअे पालते हैं अुनको बचानेका धर्म हमने अपने अूपर लिया है। अिससे आगे जाना हमारे लिअे संभव नहीं है।"

बापूजीके अिस जवाब पर हमने आपसमें खूब चर्चा की। किशोरलाल-भाअीने फैसला दिया कि "मन तटस्थ अथवा अुदासीन हो तब बचानेका प्रयत्न न किया जाये। जीवको बचानेकी वृत्ति जाग्रत हो, दयाभाव अुमड़े, तब अुसे दबानेकी अपेक्षा जीवको बचानेका यत्न करना ही अच्छा है।" किशोरलालभाअीकी वृत्ति मेरे जीवन-सिद्धान्तोंके साथ मेल खाती थी, अिसलिअे अुनका निर्णय स्वीकार करके मैं शान्त हो गया। अुसके बाद जीवोंके सवालने मनमें किसी भी प्रकारकी अस्वस्थता पैदा नहीं की।

बचपनसे जाग्रत हुआ जीवहिंसा और जीवदयाका यह सवाल अिस प्रकार शांत हुआ। हल हुआ अैसा कहनेका मन नहीं होता।

१८

दूरवालोंके प्रति आत्मीयता

जिसे मैं अेक कीमती धर्मानुभव कह सकता हूं अैसी वस्तु मुझमें कब और कैसे आ गअी, मैं कह नहीं सकता। साधारणतः लोग अपने सगे-संबंधियों और परिचित लोगोंके प्रति ही आकर्षित होते हैं। 'जिनकी पोशाक भिन्न है, जिनकी भाषा अलग है, जिनके धार्मिक रिवाज हम समझ नहीं सकते, अैसे लोग हमसे जुदा हैं, अुनका और हमारा संबंध हो ही नहीं सकता, अुनकी जीवन-दृष्टि हमसे भिन्न है, अुन्हें तो अपना विरोधी ही मानना चाहिये, अैसे बेमेल लोगोंको अपने साथ मिलने नहीं देना चाहिये' — अिस प्रकारकी वृत्ति दुनिया भरके लोगोंमें और प्रत्येक जमानेके अितिहासमें हम देख सकते हैं। सेवा, न्याय और क्षमा — ये तीनों वस्तुअें स्वजनोंके लिअे ही होती हैं। जो स्वजन नहीं हैं अुनका तिरस्कार भले न किया जाये, परन्तु वे अुपेक्षापात्र तो हैं ही। अुनके प्रति हमारा कोअी धर्म नहीं, यह मानकर चलनेवाले लोग ही दुनियामें अधिक हैं। अेक स्काटिश स्त्रीने अेक बार कहा था कि जो लोग फ्रेंच जैसी बेढंगी भाषामें प्रार्थना करते हैं अुनकी अर्जी क्या भगवान सुनने या माननेवाला है! यह प्रसंग किसी समझदार अंग्रेजने लिखा है। जिस रूपमें लिखा है अुससे तो हमें अुस स्त्रीकी वृत्ति हास्यास्पद ही मालूम होती है; परन्तु दुनिया भरके अनेक धार्मिक रिवाज और संस्कृतिकी कितनी ही खूबियां अिस प्रकारकी किसी न किसी संकुचित मान्यताके आधार पर ही प्रचलित हुअी हैं।

मुझमें जो आत्म-अविश्वास पहलेसे ही है, अुसके कारण नये लोगोंके साथ घुल-मिल जानेमें मुझे कठिनाअी होती है। जो लोग मुझे पहचानते हैं, मेरे बेढंगेपनको दरगुजर करते हैं, अुनके ही आगे मैं खिल सकता हूं। अैसी स्थिति होने पर भी जो दूरके लोग हैं, पराये गिने जाते हैं अथवा जिनकी

जीवनानुभूति मुझसे भिन्न है, अैसे लोगोंके सम्पर्कमें आनेका, अुनका दृष्टि-बिन्दु समझ लेनेका और अितने महत्त्वके भेदके पीछे अभेदके तत्त्व कौन कौनसे हैं, यह खोज निकालनेका आकर्षण भी मैं अपने-आपमें बचपनसे ही देखता आ रहा हूं।

मैं यह समझनेके लिअे लगभग व्याकुल रहता था कि जो अपनी ज्ञातिके नहीं हैं, खानपानमें हमारे नियमोंका पालन नहीं करते, वे किस प्रकार रहते होंगे और अुन्हें अपनी जिन्दगीमें किस प्रकारका समाधान मिलता होगा।

हमारे पड़ोसमें सुनारके दो लड़के थे। अुनके साथ अिसी वृत्तिसे मैंने दोस्ती की थी। पड़ोसका दर्जी नामदेव क्या खाता है, सामनेके घरका पहलवान अपने लड़कोंको किस तरह पालता-पोसता और सिखाता-पढ़ाता है, अुसके घरमें मुर्गे किसलिअे हैं, मुसलमान लड़के — डांग्या — को अुसकी मां किस भाषामें बुलाती है, ये सब मेरी बाल-जिज्ञासाके विषय थे।

जब हम कारवार गये तो मैंने देखा कि वहांके ब्राह्मण लोग नहानेके लिअे — अरे, कुल्ला करनेके लिअे भी — ब्राह्मणेतरोंका लाया हुआ पानी काममें लाते हैं। यह देखकर मैं तो दंग रह गया। मैंने यही माना कि यहां तो घोर कलियुग आ गया है। परन्तु मुझे जो आश्चर्यकी बात मालूम हुअी वह तो यह थी कि अितने सारे लोगोंमें से किसीको भी अिसमें अनुचित बात मालूम नहीं होती थी।

मेरे लिअे दूसरा आश्चर्यका विषय था सोंवळा (सोला)* या धौत वस्त्रका। यह तो ठीक था कि रेशमी, अूनी अथवा कोसेका वस्त्र पवित्र होता है और अुसे पहन कर खड़े होने पर हमें अगर कोअी छू दे तो वह अपवित्र नहीं होता। परन्तु सूतकी धोतीके बारेमें तो हमारी संस्कृतिका नियम यह था कि अुसे धोकर 'सोंवळे' के समान अरगनी पर सुखानेके बाद गीले कपड़े पहने बिना छुआ नहीं जा सकता। अपने सब कपड़े

---

* पूजन या भोजनके समय जो रेशमी, अूनी या सूती धौत वस्त्र पवित्र समझकर पहना जाता है अुसे मराठीमें 'सोंवळे', गुजरातीमें 'अबोटियो' और हिन्दीमें कहीं कहीं 'सोला' कहते हैं। — अनुवादक।

अुतार कर गीली धोती पहननेके बाद ही अिस 'सोंवळें' को पहना जा सकता था।

कारवारमें मैंने देखा कि ब्राह्मण तो क्या यदि शूद्र भी अरगनी परसे यह वस्त्र लंबी लकड़ीसे निकाल ले और अुसे हाथसे छुअे बिना पटे पर रख दे तो वह पवित्र ही रहता था। अुसके हाथका प्रत्यक्ष स्पर्श होने पर ही अुसे अपवित्र कहा जा सकता था। निकालनेकी लकड़ीको वहां 'बड़ी' कहते थे। अुन लोगोंके 'बड़ी-सोंवळे' का हम लोग खूब मजाक अुड़ाया करते थे।

अिसके आगे जाकर जब मैंने देखा कि भात, रोटी, खिचड़ी आदि वस्तुओंको यदि बेंतकी ढंकी हुअी टोकरीमें रख दिया जाये और अुसके अूपरसे कमली — अूनी कपड़ा — लपेट दी जाये, तो अुस भोजनको नौकरके हाथसे भी किसीके घरमें भेजा जा सकता था। बड़े-बड़े कर्मनिष्ठ ब्राह्मण भी ये वस्तुअें खा लेते थे। मेरे सनातनी आत्माको अिस बातसे अितनी चिढ़ हुअी कि अुन लोगोंको ब्राह्मण माननेसे ही मैंने अिनकार कर दिया!

फिर भी मेरा दिमाग चलने लगता कि अैसे रिवाज यहां सर्वमान्य कैसे हुअे होंगे? 'बड़ी' के द्वारा अरगनी परसे निकाले हुअे 'सोंवळे' के अुपयोगका महत्त्व नष्ट होता होगा या नहीं? अुस समयकी छोटी अुम्रमें अेक विचार मेरे मनमें यह अुठा कि जब कोअी शूद्र हमारे बरतनको छू लेता है तो वह अपवित्र हो जाता है, हमारे पानीको छू देता है तो अुसे फेंक देना पड़ता है; परन्तु यदि कोअी प्यासा शूद्र मेरे पास पानी मांगने आता है तब मैं अुसे मुंहसे लगी अंजलीमें पानी डालकर पिला देता हूं। अुस समय पानीकी धार तो मेरे लोटेको भी छूती है और पीनेवालेकी अंजलीको भी छूती है। फिर वह अपवित्रता पानीकी धारसे चढ़ कर मेरे लोटेको अपवित्र क्यों नहीं करती होगी? अगर कोअी बेंतकी छड़ी मेरे लोटे और अुस शूद्रकी अंजलीको अेक साथ छुअे तो मेरा पानी अपवित्र हो जाता है। तब पानीकी धारमें अैसा क्या है कि अुससे अपवित्रता अूपर नहीं चढ़ती? अिन सब नियमोंका श्रद्धा और आग्रहके साथ पालन करते हुअे भी मेरे मनमें निश्चय हो गया कि यह सब सुविधाका धर्म है। रेशमका कपड़ा कीमती है, रोज धोया नहीं जा सकता, अिसलिअे वह पवित्र है। अूनी कपड़ा रोज

रोज धोया जाय तो वह अितना सिकुड़ जायेगा कि घुटनों तक पहुंचनेवाला कपड़ा महीने दो महीनेमें लंगोटीका भी काम न दे सकेगा, अिसलिअे अुसे भी पवित्र ठहरा दिया गया है। अूनी कपड़ा अशुद्ध हो जाये तो उसे हवामें झटकना चाहिये; अिससे अुसका वायुस्नान होगा और वह पवित्र हो जायेगा। ये सब विचार मैंने श्रद्धापूर्वक ओढ़ लिये थे।

'श्रद्धापूर्वक ओढ़ लिये थे' कहनेमें मैं बहुत-कुछ कह रहा हूं। मेरी बालबुद्धि भी कहती थी कि ये सब माननेकी बातें हैं। परन्तु मेरी श्रद्धा कहती थी कि जिसे मान लिया है अुसे अितनी अुत्कटतासे मान लेना चाहिये कि वह हमारे लिअे सौ-फी-सदी सच यानी ग्राह्य हो जाये।

अितनी पूर्व-तैयारी थी अिसीलिअे प्राण-प्रतिष्ठाके सिद्धान्तको समझ लेना मेरे लिअे कठिन न हुआ। हमारे शरीरमें जो चैतन्य-तत्त्व स्फुरित होता है अुसे वहांसे निकाल कर दूसरे आदमीके हाथों बनी मिट्टीकी मूर्तिमें प्रतिष्ठित कर देना, स्थापित कर देना और अिस प्रकार अुस मूर्तिको सचेतन बनाकर अुसे प्रभुके प्रतीकके रूपमें देखना, फिर अुसे सोलहों अुपचारोंके साथ पूजना, अुससे अिच्छित वस्तु मांग लेना और अखीरमें हमने ही अुस मूर्तिमें अपना जो चैतन्य भरा था अुसे वापस अपने शरीरमें खींच लेना तथा अंतमें अुस मिट्टीकी मूर्तिको केवल मिट्टीकी मूर्ति मानकर जलाशयमें विसर्जित कर देना — अिस सबके लिअे जो अुच्च मानसिक तैयारी चाहिये वह हमारे अृषियोंने विकसित कर रखी है।

अिसीलिअे जब भावनगरके पास वरतेजमें मेरे हाथोंसे हरिजनोंके लिअे मूर्तिकी स्थापना कराअी गअी, तब मैंने अपने प्राण-प्रतिष्ठाके प्रवचनमें कहा था कि मूर्तिपूजा अज्ञानी जड़ लोगोंके लिअे नहीं है, बल्कि कमसे कम अमुक हद तक आगे बढ़े हुअे मनुष्योंके लिअे ही है।

प्रवचनमें मैंने जो यह कहा वह केवल तर्क नहीं था, परन्तु बचपनका धर्मानुभव ही बुद्धिवादकी भाषामें लोगोंके सामने रखा था।

यह बात बचपनमें ही मनमें अच्छी तरह बैठ जानेके कारण कि परस्पर भिन्न और परस्पर विरोधी साधनाके द्वारा भी मनुष्य अेक ही धर्मानुभव प्राप्त कर सकता है, मुझे भिन्न भिन्न समाजोंके और भिन्न भिन्न रिवाजोंके लोगोंके साथ हृदयका तादात्म्य स्थापित करना कठिन

नहीं होता। अैसे लोगोंकी बातें सुनते ही अुनके अनुभवोंको धारण करनेके लिअे मेरा हृदय-कमल तुरन्त अुत्फुल्ल और अभिमुख हो अुठता है। और अिसीलिअे सचमुच मेरे लिअे कोअी भी मनुष्य पराया नहीं रहता, कोअी भी धर्म परधर्म नहीं रहता। अवसर मिलने तककी देर रहती है, वह मिला कि हृदय हृदयके साथ मिल जाता है। अिसके लिअे मुझे किसी मानसिक विरोधका सामना नहीं करना पड़ा। अिस वस्तुको सीखनेके लिअे मुझे कष्ट नहीं सहना पड़ा। अैसा लगता है मानो अैसी मनोवृत्तिके साथ ही मैं पैदा हुआ हूं। अिसलिअे अिसे मैं भगवानके पाससे प्राप्त कृपा-प्रसाद ही मानता हूं।

जब मैं हाअीस्कूलमें पढ़ता था अुस समय अेक बार मुझे 'सोशल गैदरिंग' (स्नेह-सम्मेलन) करनेकी सूझी। अैसे स्नेह-सम्मेलनमें मिष्टान्नकी दावत तो होनी ही चाहिये। अिसमें से जातिपांतिका झगड़ा अुठ खड़ा हुआ अुससे तो मैं सफलतापूर्वक लड़ लिया। परन्तु अुस दिन अिस झगड़ेके अलावा अेक दूसरी बात भी हुअी। हिन्दू तो वर्णके क्रमसे अूपर नीचे बैठे। अुसमें अपनी जातिको योग्य स्थान दिलानेके लिअे मैं लड़ा था। परन्तु हाअीस्कूलमें जो मुसलमान और पारसी लड़के थे, अुन्हें सबसे अखीरमें अलग बैठाया गया था। अुनके लिअे न तो 'रांगोली' (चौक) थी और न अुनके सामने अगरबत्तियां ही लगाअी गअी थीं। मुझे यह बुरा लगा। अन्यायके प्रति चिढ़ तो मुझमें भरी हुअी थी ही, परन्तु मेरा अुस दिनका अनुभव चिढ़से कुछ भिन्न था। मैं अिस भावनासे तिलमिला अुठा कि ये मुसलमान और पारसी विद्यार्थी मैं खुद ही हूं और यह अपमान मेरा ही हो रहा है। किसी दूसरे व्यक्तिका अपमान हो रहा हो और वह सरलतासे अुसे सह रहा हो, तो हम भी आंख-कान मूंद कर चुपचाप बैठ जाते हैं; परन्तु यह तो मेरा ही अपमान हुआ, मेरे ही हृदय पर आघात लगा। यह चुपचाप कैसे सहा जाये? मैंने तुरन्त ही अिन लोगोंको परोसनेका काम अपने हाथमें ले लिया। सब लोगोंके पास खानेकी चीजें पहुंचें अुसके पहले ही मैं अिन लोगोंको परोस आता। प्रेमके साथ अुनसे अधिक खानेका आग्रह भी करता। अुनमें अेक पारसी लड़के बाटलीवालाको छोड़कर दूसरा कोअी मेरी कक्षाका नहीं था, अिसलिअे अुनसे मेरी दोस्ती नहीं थी। मुझे

विशेष रूपसे अपनी ही सेवामें आया देख कर अुन्हें भी आश्चर्य हुआ, क्योंकि मैं जनरल सेक्रेटरी (प्रधान मंत्री) था। गांवके बड़े बड़े नेताओंके सामने खड़े होकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेका मुझे हक था। परन्तु अुस कामके लिअे अुम्मीदवारोंकी कमी नहीं थी। स्नेह-सम्मेलन पूरा हो जानेके बाद मैंने अिन लोगोंके साथ दोस्ती जोड़नेका विशेष प्रयत्न भी नहीं किया, क्योंकि मेरी कक्षामें मेरे दोस्त काफी थे।

१९

अुपनयन

महाराष्ट्रमें अुपनयन-विधिको 'मुंज' कहते हैं। हरअेक ब्राह्मण बालकका आठवें वर्षमें तो अुपनयन (जनेअू) हो ही जाना चाहिये। पांचवें वर्षमें भी अुपनयन हो जाता था। सोलहवें वर्ष तक अुपनयन न हो तो, समझिये, अुस बालकका ब्राह्मण्य गया, वह पतित हुआ। अैसोंके मां-बापको भी कुछ पाप लगता होगा। साधारणतः बारह वर्षके पहले अुपनयन हो ही जाता था। जनेअू पहनना और वेदके मंत्र सीख कर दो या तीन बार संध्या-वंदन करना अिस विधिका मुख्य अंग था। परन्तु लौकिक दृष्टिसे कमरमें मूंजकी रस्सी बांधना और लंगोटी पहनना ही मुख्य अंग माना जाता था। अिसीसे अिसका नाम 'मुंज' पड़ गया। दूसरे प्रान्तोंमें अुपनयनविधिका नाम जनेअू है, जो अधिक अनुकूल मालूम होता है।

हमारे प्रान्तमें अुन दिनों बच्चे आठ वर्ष तक घरमें नंगे फिर सकते थे। बाहर जाते समय धोती या अिजार (पायजामा) पहननेका रिवाज था। घरमें अेक कुर्ता हो तो बस होता था।

'मुंज' हो जानेके बाद लंगोटी पहनना अनिवार्य होता था। जब जनेअूकी विधि होती अुस समय कमरमें मूंजकी रस्सी बांधी जाती, परन्तु बादमें या तो रेशमका धागा कमरमें होता या अेक जनेअू ही बांध लिया जाता था। रेशमका धागा (करगता) ठेठ बचपनसे भी कमरमें बांधा जाता था।

मेरे बड़े भाअी केशू या गोंदूके जनेअूका अुत्सव था। शहनाअी और चौघड़ियां बज रही थीं। मिठाअी खानेको मिलती थी। मैं कहीं खेलता होअूंगा। अेक जवान आदमीने मेरे पास आकर कहा—"चल, तेरे पिताजी तेरे भाअीको लंगोटी पहना रहे हैं, वह देखने चल। आज अपने भाअीका आखिरी नंगा दर्शन कर ले। बादमें फिर कभी वह नंगा देखनेको नहीं मिलेगा।" आखिरी दर्शनमें कोअी खासियत है, अैसा मुझे नहीं लगा। मैं गया और देख आया। सैकड़ों लोगोंके बीचमें मेरा भाअी पिताजीके सामने बिलकुल नंगा खड़ा था। पिताजीने पहले मूंज-घासकी डोरी अुसकी कमरमें बांधी। बादमें अुसे पीले रेशमकी (जिसे 'ताप्ता' कहते थे) लंगोटी पहनाअी। फिर आगेकी विधि आरंभ हुअी।

जो बात फिर कभी नहीं की जा सकती, जो अन्तिम बार हो रही हो, अुसमें कुछ महत्त्व होता है यह मैं समझना सीखा। नंगापन छोड़ कर लंगोटी पहनना संयमका अेक लक्षण था।

अिसी प्रकार, जनेअू देनेके पहले बटुकको माताके साथ अुसकी ही थालीमें भोजन करनेके लिअे बैठानेका नियम होता है। जनेअू मिलनेका अर्थ है कि अुस दिनसे पूरे जीवन बटुक किसीका जूठा नहीं खा सकता—माताका जूठा भी नहीं। माताके साथ बालककी यह पहली जुदाअी होनेके कारण जनेअूकी विधिका यह महत्त्वपूर्ण अंग है। माता अच्छेसे अच्छे कपड़े पहनती है। सब सगे-संबन्धी आकर पंक्तियोंमें बैठते हैं। बाजे बजते हैं। अिस प्रकार अिस विधिको जितना हो सके अुतना अुत्सवका रूप दिया जाता है। बालकको अिसमें खूब मजा आता है। परन्तु मांका चेहरा तो देखने लायक ही होता है! मां बड़ी कठिनाअीसे आंसू रोक सकी थीं, क्योंकि शुभ कार्यके समय आंखोंसे आंसू ढाले नहीं जाते। अिसी बीच कोअी धर्माभिमानी बोल अुठा—"बस, आज तक लड़का मांका था, अब वेदाध्ययनके लिअे गुरुका हो गया। अच्छा है कि पिता ही गुरु बन रहा है। अब कलसे यही लड़का मांके दरवाजे 'ॐ भवति भिक्षां देहि' बोलता हुआ भिक्षा मांगनेके लिअे खड़ा होनेवाला है।" अितना सुना, और मांकी आंखोंसे टप-टप चार आंसू गिर ही पड़े। सच पूछा जाय तो कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। लड़का घरमें

ही रहता है, मांकी थालीमें भले ही खाने न बैठे, परन्तु मां अुसे प्यारके साथ खिला तो सकती ही है। फिर भी अबसे अेक थालीमें भोजन न कर सकेंगे यह बंधन माताके लिअे भारी पड़ता है। कुछ लाड़में पले हुअे लड़के भी मांको रोते हुअे देखकर खुद भी रो पड़ते हैं।

आखिरी बार आनन्द लूटनेकी बात मैंने अेक-दो अन्य प्रसंगों पर देखी है।

हमारे जमानेके ब्राह्मण प्याज या लहसुन नहीं खाते थे और खाते तो भी स्वीकार नहीं करते थे। बहुत आदत हो तो रातको प्याज खाते थे। दुपहरको जो भोजन बनता था वह भोगके रूपमें भगवानके सामने रखा जाता था, अिसलिअे दुपहरको प्याजका अुपयोग नहीं होता था।

परन्तु चातुर्मास्य लगते ही प्याज बिलकुल बन्द हो जाता था। (चातुर्मास्यका अर्थ है, आषाढ़ी अेकादशीसे लेकर कार्तिकी अेकादशी तक बरसातके चार महीने — अर्थात् चौमासा)। अब चार महीने प्याज खानेको नहीं मिलेगा और यह संकट सहना होगा। पूर्व-तैयारीके तौर पर आषाढ़ सुदी नौमीको 'कांदा-नौमी' (प्याज-नौमी) का अुत्सव होता था। अुस दिन प्याजके शौकीन डट कर प्याज खा लेते थे। पकौड़ियों, शाक और दालमें तो प्याज होता ही था, परन्तु कुछ लोग तो भात और रोटीमें भी प्याज डालकर खाते थे। दिल्लगीमें मैं कहा करता था कि, "अुस दिन भोजनके बाद हाथ धोनेके लिअे जो पानी काममें लाया जाता है वह भी प्याजका ही पानी होना चाहिये।" प्याजके लिअे मेरे मनमें अिस ओर या अुस ओर पक्षपात नहीं था, फिर भी दूधमें प्याजकी बास आये तो मेरे लिअे वह असह्य होती थी। परन्तु 'कांदा-नौमी' को तो प्याजका राज्य होता था। अुस दिन अुसे सब जगह पहुंचनेका अधिकार था।

कांदा-नौमीका तत्त्व अुससे भी आगे बढ़ा हुआ दिखाअी दिया होलीके अुत्सवमें। सारे वर्ष सज्जनताकी भाषा बोलने और मुंहसे गाली न निकालनेका कष्ट सहनेके पुरस्कार-स्वरूप होलीके दिन अपशब्द बोलनेकी छूट ले ली जाती थी। भाषाकी जितनी गालियां लोगोंको याद हों, या भूल गअी हों, वे सब अुस दिन ताजा हो जाती थीं। छोटी और बड़ी

टोलियां बना कर लोग गली-गली घूमते थे, अेक-दूसरेके मुंह पर राख चुपड़ते थे, गंदी आकृतियोंके छापे अेक-दूसरेके कपड़ों पर लगाते थे और स्त्री-जातिके लिअे बेहद अपमानजनक, बीभत्स शब्दोंके नारे लगाते — कबीर बोलते थे। अुस दिन सारे समाजकी स्त्रियोंकी क्या हिम्मत कि सड़क पर चल सकें! अूधमका अेक अैसा दिन बितानेसे सारे वर्ष लोगोंमें सभ्य भाषा बोलने और शराफतसे व्यवहार करनेकी हिम्मत आ जाती होगी!

पुराने 'धार्मिक' जीवनमें से अेक सरीखे दिखनेवाले परन्तु अेक-दूसरेसे बिलकुल भिन्न चार अुदाहरण अेक साथ याद आये। अिनसे बोध क्या लिया जाये? मांकी थालीमें अुसके साथ खाने बैठनेमें जूठा खानेका दोष है, यह सिद्धान्त कोअी कितना भी क्यों न बताये, जिसे बचपनसे मां-बापके साथ खानेकी आदत होगी वह कभी माननेवाला नहीं है कि मैं अब अिस गंदी आदतसे अुबर गया। कितने ही वैष्णव अेक कौर मुंहमें लेनेके बाद जूठा हाथ धोकर ही दूसरा कौर लेते थे। दूसरे कुछ लोग तो भगवानकी पूजामें बैठने पर अुन्हें अक्षत चढ़ानेके बाद शंखमें रखे हुअे पानीसे हाथ धोते थे और बादमें फूल चढ़ाते थे, और फिर अिसी प्रकार हाथ धोते थे। मेरे नाना तो आखिर-आखिरमें मिश्रीका टुकड़ा भी मुंहमें लेना होता था तो हाथ-पैर धोकर, 'धाबळ' पहन कर ही अुसे लेते थे। ('धाबळ' कहते हैं अूनी वस्त्रको जो धोतीके समान पहना जाता है और पवित्र माना जाता है)।

परन्तु, क्या कांदा-नौमी और धुलहटीके रिवाजोंमें दाखिल किये गये 'सेफ्टी वाल्व' (रक्षा-द्वार) का सचमुच कोअी अुपयोग है? अिस सिद्धान्तका मैं यहां विवेचन नहीं करना चाहता, परन्तु अैसे अुदाहरणोंका मेरे मन पर अच्छा-बुरा बहुत गहरा असर हुआ है। अितना यहां अवश्य कह दूं कि अेक-दो बार दूरके सगे-सम्बन्धियोंके खींच ले जाने पर मैं धुलहटीकी अिन टोलियोंमें शामिल हुआ था सही, परन्तु प्रोत्साहन या धमकीसे भी वे मुझे अिन बीभत्स प्रकारोंमें शामिल नहीं कर सके थे।

२०

नअी संध्या

मेरा जनेअू कुछ देरसे हुआ था। अिसलिअे मैं बहुत दिनों तक जनेअूके लिअे लालायित रहा। जनेअू होते ही मैंने अुत्साहके साथ संध्या-वंदनके मंत्र सीख लिये। बादमें पुरुषसूक्तके मंत्र कंठ करनेकी बारी आअी। विष्णुसूक्त तो अुसके साथ ही होता था। पूजाके बहुतसे पौराणिक मंत्र मैंने जनेअू होनेके पहले ही कंठ कर लिये थे। अितना ही नहीं, पिताजीको पूजामें तांत्रिक मदद करते समय मैं अिन मंत्रोंका अुपयोग भी करता था।

आगे चल कर कर्मकांड और भक्तिकांड दोनों ही कुछ शिथिलसे हो गये और प्रार्थनामें अीश्वरके रूप, आयुध और अलंकारोंकी अपेक्षा अीश्वरके गुणों और मनुष्यकी नैतिक जिम्मेदारीके विषयमें अधिक आकर्षण जाग अुठा। अीश्वरके शक्तिशाली होनेमें शंका नहीं थी, परन्तु अुसके सामर्थ्यका बखान करनेमें कोअी महत्त्व न रहा। अीश्वर जैसा समर्थ है वैसा ही न्यायी भी है। जैसा वह सर्वज्ञ है वैसा ही क्षमावान भी है। वह कर्मके सिद्धान्तके आधार पर यह सृष्टि चलाता है, परन्तु साथ साथ प्रार्थनाके लिअे भी अवकाश रहता है। ये सब बातें मैं बहुत अंशोंमें समझने लगा। अुस समय मैं अंग्रेजीकी तीसरी कक्षामें रहा हूंगा। संध्याके मंत्र और सवेरे-शामकी संध्या दोनों छूट गये और अुनके बदलेमें शालामें सीखे हुअे गीत मैं सुबह-शाम भक्तिपूर्वक गाने लगा। अिसका प्रारंभ अेक विशेष 'आर्या' से होता था, जो यह है:

देवा! परम-समर्था दीनदयाळा, प्रभो, जगन्नाथा।
आलों शरण तुला मी, दीन तुझ्या ठेवितो पदीं माथा॥

अर्थात्—हे देव! परम समर्थ, दीनदयालु, प्रभो, जगन्नाथ, मैं तेरी शरणमें आया हूं, मैं दीन तेरे चरणोंमें माथा टेकता हूं।

अेक दिन मैं समुद्रके किनारे घूमने गया था। वहां देवीदासने मुझसे पूछा—"तुम सुबह-शाम संध्या-वन्दन तो जरूर करते होगे?"

मैंने अुससे पूछा — "तुम करते हो?" अुसने कहा — "नहीं तो क्या? संध्या-वन्दनके बिना कोअी ब्राह्मण रह भी सकता है? मगर मेरे सवालका जवाब तो तुमने दिया ही नहीं? पानी कुछ मरता दिखाअी देता है!" मैंने कहा — "सच बात यह है कि सवेरे-शाम मैं संध्या-वन्दन तो करता ही हूं; और करता हूं अितना ही नहीं, तुम्हारे समान यांत्रिक ढंगसे नहीं करता, परन्तु भक्तिभावपूर्वक करता हूं। फर्क सिर्फ अितना है कि मैंने अपने रूढ़ संस्कृत मंत्र छोड़ दिये हैं। मैं अपनी बनाअी हुअी संध्या ही करता हूं।" मेरे नये मंत्र कौनसे हैं सो मैंने अुसे नहीं बताया, क्योंकि वही आर्यायें वह भी प्रति रविवारको शालाकी नीति-शिक्षणकी कक्षामें गाता था। परन्तु यह सब पूछनेकी बात अुसे कहांसे सूझती? मैंने नयी संध्या खोज निकाली है अिस धृष्टतासे ही वह चकित हो गया। अुसने कहा — "क्या तुम कोअी अृषि हो जो नयी संध्या चला सकते हो? कोअी पवित्र अृषि-मुनि हो और अुसने कठिन तपश्चर्या की हो तब अुसे मंत्र-देवताका साक्षात्कार होता है। अुसके बाद कहीं वह नअी संध्या चला सकता है।" मैंने मुंह खूब गंभीर बनाकर कहा — "हम अपने काम भरके लिअे अृषि हैं। तपश्चर्या पीछे होती रहेगी।" अुसने फिर पूछा — "परन्तु तुम्हें यह सब सूझा कहांसे?"

मैंने गप हांकनी शुरू की। मराठी कवियोंके पौराणिक ग्रंथ पढ़ पढ़ कर मेरी कल्पनाशक्ति खूब तेज हो गअी थी। मैंने कहा — "गोकर्णके कोटितीर्थमें मैं नहाने गया था। वहां नाग लोग मुझे खींचकर पाताल ले गये। वहां अेक आश्रम था। दाढ़ी-जटावाले अृषिगण वहां तपश्चर्या कर रहे थे।" अित्यादि अित्यादि। देवीदास यह सब सच मानता हो सो बात नहीं, परन्तु वह सवाल पूछ-पूछ कर विवरण मांगता था और मैं 'वचने का दरिद्रता' के न्यायके अनुसार अद्‌भुत रस परोसता जाता था। अच्छा अितना ही था कि समय हो जाने पर घर लौटनेका फर्ज दोनोंके सिर पर सवार था।

बालपनमें अैसे प्रसंग बहुत महत्त्वके नहीं होते। परन्तु देवीदासकी अेक बात मेरे मनमें छिद गअी — "तुम क्या कोअी अृषि हो कि अपनी संध्या चला सकते हो?"

धार्मिकताके संस्कार प्राप्त करनेकी आतुरता होने पर भी मैंने गपोड़बाजी क्यों की? मेरी प्रार्थनामें अेक आर्या (गीति) थी:

श्रद्धा सद्धर्मावर सच्छास्त्रावर सदा असो द्यावी।
पाखंडवाद नास्तिकपण यांची अभिरुची मनिं नसावी॥

अर्थात् — सद्धर्म और सत्शास्त्र पर सदा श्रद्धा रहे। पाखंडवाद और नास्तिकताकी रुचि मनमें न रहे।

गप यानी असत्य। कल्पना-तरंग पर तैरता छोड़ा हुआ असत्य। अिसमें सुरक्षा केवल अितनी ही थी कि सुननेवाला आदमी अुसे सच मानकर भ्रमित हो जाये अिसकी कोअी संभावना नहीं थी। पुराण रचनेवाले कवि जो गपें लिखते थे अुन पर खुद अपनी श्रद्धा पैदा करते थे और अपेक्षा रखते थे कि सामान्य जनता भी अिस सबको सच्चा माने। खुद चलाअी हुअी कल्पना या भ्रमणा खुद पर ही किस प्रकार सवार हो सकती है — यह मानसशास्त्रकी अेक पहेली है।

देवीदासका पूछा हुआ प्रश्न कि "नयी संध्या रचनेके लिअे क्या तुम कोअी अृषि हो?" हिन्दू धर्मका पूरा रहस्य प्रगट करता है। हिन्दू धर्म प्रगतिशील है। विकासके लिअे अुसमें हर प्रकारका अवकाश है। पुरानेको छोड़ देने और नयेको ग्रहण कर लेनेकी छूट अुसमें पहलेसे ही मौजूद है।

परन्तु ये फेरफार चाहे जो मनुष्य नहीं कर सकता। जिसने निष्ठापूर्वक धर्मका पालन किया है, तपश्चर्या करके वासना, दुरभिमान, संकुचितता, अेकांगिता और अदूरदृष्टि आदि अपने दोषोंको जला दिया है, वही मनुष्य हिन्दू धर्ममें तबदीली, फेरफार कर सकता है।

आगे चलकर जब मैंने धर्मशास्त्रोंका मूल संस्कृतमें अध्ययन किया, तब देखा कि प्रत्येक स्मृतिग्रंथके प्रारम्भमें अृषिका वर्णन करके अुस अृषिका नअी स्मृति चलानेका अधिकार अप्रत्यक्ष रीतिसे बिना चूके सूचित किया गया है। स्मृतियोंमें अिस प्रकारका प्रास्ताविक भाग मिलता ही है कि — तप करके जिन्होंने पापोंका क्षय किया है अैसे अृषियोंने 'लोकहित-काम्यया' यह सब लिखा है और कलियुगके

कारण लोगोंकी परेशानियां बढ़ जानेसे करुणाके वशीभूत होकर अुन्होंने नअी व्यवस्थाअें दी हैं।

मैंने देखा है कि ठेठ बचपनसे मेरे अन्दर अेक वृत्ति प्राचीनकी रक्षा करनेकी ओर रही है और दूसरी वृत्ति पुरानेको छोड़ कर या तोड़ कर अुसके स्थान पर नअी वस्तु खड़ी करनेकी आग्रही रही है। और खूबी यह है कि मेरा मानस दोनोंकी कदर करके दोनोंके बीच सध सकनेवाले समन्वयकी खोज करता रहता है। बचपनमें यह बात छिछली थी, कुछ अधकचरी थी और समन्वयमें सुमेलका संगीत पैदा होता ही था अैसा नहीं; फिर भी प्रयत्न अिसी दिशामें रहता था।

मूर्तिपूजामें कलात्मक आकर्षण होने पर भी प्रार्थनामें भगवानके सौन्दर्यके वर्णन मुझे अशोभन मालूम होते थे। भगवानको पहनाये गये कपड़े और आभूषण मेरी रुचिसे मेल नहीं खाते थे, अिसलिअे ये वर्णन पढ़ कर मेरा रस-भंग ही होता था। भगवानका गुणगान भी अनेक बार मुझे कृत्रिम लगा है और अिस असन्तोषके कारण मैं भगवानके विषयमें अपनी कल्पनाको दिनोंदिन विशुद्धतर और विशुद्धतम बनाता गया हूं।

अैसे असंतोषके ही कारण गुण-दोषकी परीक्षा करनेवाली बुद्धि जागी। विचार निर्दोष होने लगे। परन्तु अिस असंतोषके कारण अुपासनाकी अेकाग्रता टूट गअी और अुत्कटता कम हो गअी।

परन्तु अिस विषयमें स्वतंत्र रूपसे विस्तारपूर्वक लिखना चाहिये।

२१

ओशकृपा हि केवलम्

१

मैंने कहीं लिखा है कि जब हम सावंतवाड़ीमें थे अुस समय विठू नामके अेक चपरासीने मुझसे अीश्वर-भक्तिकी बहुतसी बातें कही थीं। वह जो कुछ कहता था अुसमें अुसका पूरा पूरा विश्वास था, और कहता अितनी अुत्कटतासे था कि अुसका असर हृदय तक पहुंचे बिना नहीं रहता था।

अेक दिन दुपहरको जब गप्पाष्टकें चल रही थीं, अुसने कहा कि मनुष्य जब तक चौदह वर्षकी अुम्र पूरी नहीं कर लेता तब तक की अुसकी भूलें भगवान माफ कर देता है। अुसके बादकी भूलोंके लिअे सजा मिल सकती है, क्योंकि चौदह वर्ष तक मनुष्यको अच्छे-बुरेका पूरा खयाल नहीं होता। चौदह वर्ष बाद वह सब-कुछ समझने लगता है। अुसके बाद किये गये पाप भूलसे या अज्ञानमें किये गये नहीं माने जाते।

मुझे लगता है कि अुस समय मैं बारह-अेक वर्षका रहा होअूंगा। ठीक याद नहीं है। मुझे लगा कि मेरे सामने कितना सुन्दर अवसर है! अभी मेरे चौदह वर्ष पूरे नहीं हुअे। अुसके पहले ही मुझे अितना ज्ञान मिल गया है, तो अिसका लाभ मैं क्यों न अुठाअूं?

अुस समय मनमें यह विचार नहीं अुठा कि भगवानने चौदह वर्ष ही क्यों पसंद किये? यह चौदह वर्षकी अवधि मनुष्यको किसने बताअी होगी? कौनसे सन्त पुरुषने भगवानका मन जाना होगा? मनमें यह विचार भी न आया कि अगर बारहवें वर्षमें ही अिस बातकी जानकारी हो जाये और अच्छे-बुरेका विवेक जाग्रत हो अुठे, तो बादके दो वर्ष तक भगवान किसलिअे क्षमा करे? चौदह वर्षका अर्थ पंचांगके अनुसार चौदह वर्ष है या समझ-शक्तिकी चौदह वर्षके बराबर परिपक्वता है?

अिस प्रकारके विचार अुस समय मनमें न आये यह अच्छा ही हुआ। मनमें अिस प्रकारकी धन्यता पैदा हो गअी कि अब तक जो

हो गया सो हो गया। अुसके बारेमें पछतावा करके हताश होनेकी जरूरत नहीं। अिस सबको भूलकर आजसे ही तमाम दोष टालकर पुण्यका संचय करना चाहिये। मैंने मनमें कितने ही संकल्प कर लिये।

मां-बापकी दिलसे सेवा करूंगा। भाअियोंके साथ झगड़े नहीं करूंगा। स्वार्थके वश होकर किसी भी प्रकारकी ज्यादा सुविधाअें नहीं मांगूंगा। अतिथि तथा अभ्यागतके प्रति लापरवाही नहीं दिखाअूंगा। किसीकी भी सेवा करनेका अवसर मिलेगा तो अुसे छोड़ूंगा नहीं। चींटी-मकोड़े वगैरह प्राणियोंको नहीं छेड़ूंगा। कौओं, तोतों और छोटी चिड़ियों आदि प्राणियोंके लिअे किसी न किसी स्थान पर पानी भर कर रखूंगा। गाय-भैंसके सींगोंके बीचमें खुजलाअूंगा। अिस प्रकारके जितने सूझे अुतने संकल्प मैंने किये। अुनमें सबसे पहले संकल्पने जो निश्चित रूप पकड़ा वह यह था — सुबह अुठते ही माता-पिताके पास जाकर अुनके चरणस्पर्श करना। यह बात मैंने नयी शुरू नहीं की थी। अिससे छोटी अुम्रमें भी चरणस्पर्श किया होगा, परन्तु अब यह नियमित रूपसे होने लगा। नाम-स्मरणके बारेमें भी यही बात थी। अिसमें पहला भान यह जागा कि हम धर्मनिष्ठ हैं, दूसरे लोगोंकी अपेक्षा अच्छे हैं। अुस अुम्रमें अिस प्रकारके भानका परिणाम मीठा ही होता हो सो बात नहीं है।

दूसरे चाहे जिस प्रकार व्यवहार करें, पर मैं तो अपने ही रास्ते जाअूंगा। दूसरे कहां मेरे समान साधक हैं? अिस प्रकारका भान मनुष्यको अनेक अनुकरणोंसे बचाता है और जागृतिका लाभ देकर अूपर चढ़नेमें मदद करता है।

रोज नहानेके बाद अंग-अंगसे जैसा यह भान स्फुरित होता था कि अब हम कितने स्वच्छ हो गये हैं, कुछ अुसी प्रकारका भान मैं अूपर लिखे संकल्पोंसे अनुभव करने लगा। अिसकी तुलना जनेअू मिलनेकी दीक्षाके साथ ही की जा सकती है।

आज जब अुन दिनोंका स्मरण करता हूं तो लगता है कि मैंने जो-कुछ पाप किये होंगे वे सब १२–१४ वर्षकी अुम्रके बादके ही होंगे। चौदह वर्षके पहलेके पाप अीश्वर तो क्या, मेरे जैसा मनुष्य भी क्षमा

कर सकता है। जिन पापोंके लिअे अुन दिनों मैंने गहरा पछतावा किया था वे आज तुच्छ मालूम होते हैं और चौदह वर्षके बाद जो पाप किये अुनकी तो कल्पना भी अुस अुम्रमें अुदित नहीं हुअी थी। पाप कितनी सूक्ष्म वस्तु है और बाहरसे हमारे बिलकुल अच्छे दिखाअी देने पर भी मनके क्षेत्रमें कितनी और कैसी सड़न पैदा हो सकती है अिसका बचपनमें भान भी नहीं होता, यही अीश्वरकी सबसे बड़ी कृपा है।

२

अिस प्रकारकी अवधिको अंग्रेजीमें 'पीरियड आफ ग्रेस' कहते हैं। अिसकी कल्पना अेक या दूसरे रूपमें सब धर्मोंमें देखनेको मिलती है।

बहुतसे अीसाअी लोग मानते हैं कि जब तक अीसा मसीहका जन्म नहीं हुआ था, तब तक मनुष्यको धर्मका सच्चा ज्ञान ही नहीं था: अिसलिअे अीसा-पूर्वके दिन अधन्य दिन थे। अीसा मसीह आये और दुनिया धन्य हो गअी। अब हरअेक मनुष्यके लिअे पश्चात्ताप करनेका और अीश्वरकी क्षमा प्राप्त करनेका मार्ग खुल गया।

अिस्लामकी मान्यता है कि प्रत्येक देशमें और प्रत्येक युगमें लोगोंको चेताकर सावधान करनेवाला और अुनके पास अीश्वरका पैगाम पहुंचानेवाला कोअी न कोअी पैगंबर या नबी अवश्य भेजा जाता है। जब तक अैसे नबीकी नसीहत कानोंमें नहीं पड़ती तब तक मनुष्य पाप करता ही है। अैसे पापके लिअे अुसकी जिम्मेदारी नहींके बराबर मानी जाती है। परन्तु नबीकी वाणी कानोंमें पड़ने पर मनुष्यकी जिम्मेदारी बढ़ जाती है। फिर अुसके अनुसार न चलनेका अुसके पास कोअी कारण नहीं रह जाता। कुरानका भगवान कहता ही है कि "अै लोगो! हमने तुम्हारे भलेके लिअे तुम्हारे पास अेक नबी भेजा। अुसने तुम्हारे पास आकर तुम्हें चेताया, फिर भी तुमने अुसकी बात नहीं मानी। अब तुम किस मुंहसे क्षमा मांग सकते हो?"

भगवानके पाससे क्षमा मिलती है, अिसके लिअे अवधिकी आवश्यकता नहीं, परन्तु पूर्ण पश्चात्ताप जरूरी है। मनुष्यकी पाप करनेकी शक्तिसे पापको क्षमा करनेकी भगवानकी शक्ति बड़ी है। पतित-दशाका अनुभव करनेके बाद अीश्वरकी कृपासे धन्य हुअे सब सन्तोंने यह स्वीकार

किया है। अिसका कारण अितना ही है कि भगवान अन्तर्यामी है, आत्माराम है। वह शुभ-संकल्प है; और सत्य-संकल्प तो है ही। पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त दोनोंका कर्मके सिद्धान्तमें स्थान होनेसे ही अीश्वरकी न्यायनिष्ठा और कृपालुता अेकरूप होती है।

संध्या, अघ-मर्षण, प्रार्थना और अुपासना — ये सब कार्य अीश्वरकी कृपाको जाग्रत करनेके लिअे ही हैं।

२२

धर्मवृत्ति विकसित करनेके क्षेत्र

मेरी कल्पनाके अनुसार धर्ममें नीचे लिखी बातोंका अन्तर्भाव होता है। अुनकी सिद्धि ही धर्मलाभ है।

१. स्वच्छता, सुघड़ता, आरोग्य और सर्व-हितकारिता।

२. अखंड ज्ञानोपासना और बढ़ती हुअी कर्म-कुशलता।

३. संस्कारिता, परस्पर मेल (सामंजस्य)।

४. परोपकार, दया, प्रेम और कल्याण-बुद्धि।

५. दुःख-निवारण, अन्यायका प्रतिकार, संकट और अरिष्टके मौके पर दब न जाना और बहादुरीसे अुसका सामना करना।

६. स्वार्थ, मत्सर और कपटका त्याग, आन्तरिक विशुद्धता, अृजुता, हृदयकी अेकता।

७. मनुष्य-समाजके प्राणियोंके और समस्त विश्वके हृदयकी पहचान और अुनके साथ अेकता तथा अुससे अुत्पन्न होनेवाला आनन्द।

८. आत्माका परमात्माकी ओर प्रवाह, योग और अुसकी साधना।

९. यह योग साध्य हो, अिसके लिअे अिन्द्रिय-जय, वासना-त्याग, संयम और जड़ पर चैतन्यके विजयकी साधना।

१०. सामान्य समाजके भिन्न भिन्न लोगोंमें और वर्गोंमें कुछ न कुछ संकुचितता और स्वार्थबुद्धि रहने ही वाली है; यह समझ कर अिनके अूपर सामाजिक अंकुश लगाकर व्यक्तियों और वर्गोंके बीच समाधान और स्नेहभाव (संघर्षका अभाव) पैदा करनेके लिअे की गअी व्यवस्था।

११. जीवन-क्रममें अिस प्रकारका सामंजस्य अुत्पन्न करनेके बाद जो जीवन-काव्य अुत्पन्न होता है, अुसका प्रसन्न-गंभीर भावसे अुपभोग करनेके लिअे खड़ी की गअी संस्थाअें।

१२. समाजके भिन्न भिन्न अंगों और अवयवोंके बीच सहयोगके लिअे अत्यन्त आवश्यक भावनाअें और अुनसे अुत्पन्न होनेवाले संबंधोंकी सुवास, मिठास और संगीतका विकास।

१३. भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों पीढ़ियोंकी परंपरा संभाली जाये, अुसकी शृंखला बंधे और अिस प्रकार संस्कृतिकी पूंजी संचित की जाये, बढ़ाअी जाये और जीवित रखी जाये — अिसके लिअे पैदा की हुअी पवित्र संस्थाअें, कथाअें और प्रतिज्ञाअें।

१४. अपनी आदतों और शरीरकी मर्यादाओंकी कद्र करके भौतिक सृष्टि, प्राणी-जगत और मनुष्य-समाज तीनोंकी सेवा लेकर और अुसी प्रकार अुनकी सेवा करके जीवनको परिपुष्ट करनेके बाद यथासमय अिससे अलिप्त और मुक्त होनेके लिअे किये गये संकल्प और साधना।

१५. तादात्म्यके साथ तटस्थताका मेल बैठाकर अभ्याससे स्थिर की हुअी विश्वात्मैक्य-वृत्ति, शान्ति और मुदिता।

अूपर किया हुआ पृथक्करण संपूर्ण है, अैसा मेरा दावा नहीं है। परन्तु रह गये जैसे लगनेवाले मुद्दे भी अिस पृथक्करणमें किसी न किसी रूपमें आ ही जाते हैं। पृथक्करणके अेक अेक मुद्देके नीचे असंख्य छोटे मुद्दे और प्रसंग आ जाते हैं। अिन सबका परिचय कैसे हुआ और अुस परिचयसे साक्षात्कार कैसे प्राप्त हुआ यह सब यदि विस्तारसे कहा जा सके तो ही अुसे धर्मानुभवका संपूर्ण बयान माना जा सकता है। वैसा करने बैठूं तो अिसमें मानव-कोटिका लगभग पूरा जीवन आ जायेगा और अिन सब बातोंका व्यवस्थित रूपसे, धार्मिक वृत्तिके साथ स्मरण करना भी अेक बड़ी धर्म-साधना बन बैठेगी।

२३

क्रतुपतिसे प्रार्थना

अुपनिषदोंमें जीवात्माको 'क्रतु' कहा गया है। 'क्रतु' अर्थात् करनेवाला। संकल्प करनेवाला, ज्ञानोपासना करनेवाला, कर्म करनेवाला, कौशल्यको बढ़ानेवाला संयम और समन्वय करनेवाला जो मनुष्य है वही 'क्रतु' है। अुसका किया हुआ जीवन-यज्ञ भी 'क्रतु' है। अुस जीवन-यज्ञसे जो सामर्थ्य पैदा होता है वह भी 'क्रतु' (Kretos = Power) ही है। अिस प्रकारके क्रतुयुक्त मनुष्यको क्रतुका आदेश है कि "ॐ क्रतो स्मर; कृतं स्मर"। हे कर्मकारी मनुष्य, अपना किया हुआ याद कर। जितना जिया वह सब स्मरण द्वारा फिरसे जी ले, यही बड़ी साधना होगी। अिन अनुभवोंको अैसी पवित्र भावनासे लिखना है कि धर्मानुभवका स्मरण, चिन्तन और निबंधन भी अेक जीवन-साधना बनेगी। भगवान क्रतुपति अिसमें सहायक हों।

२४

गुरुजनोंकी कमियां

सद्भाग्यसे मुझे अपने बालपनमें चरित्रहीन शिक्षकोंसे पढ़नेका मौका नहीं आया। अगर कोअी शिक्षक चरित्रहीन रहा हो तो मेरे कानों तक अैसी कोअी बात नहीं आअी। लोकमान्य तिलकके आदरणीय साथी विष्णु शास्त्री चिपलुणकरके जीवन-चरित्रमें मैंने पढ़ा है कि जब वे (और अुनके सहपाठी) बचपनमें सुबह-सुबह शाला जाते और शिक्षकको कक्षामें न देखते, तो वे अुसकी वेश्याके घरमें जाकर अुसे अुठा कर लाते थे और शिक्षक भी शरमाये बिना, कुल्ला-दतून करके, बालकोंके साथ शाला चला आता था।

हमारे जमानेमें सभी शिक्षक हमें नीतिका अुपदेश करते थे और खुद अपने जीवनमें अेक निश्चित अूंचाअी पर रहनेका अुन सबका दावा भी होता था। अिसलिअे सामान्यतः अुनके लिअे हमारे मनमें आदर रहता था।

अेक शिक्षकने मेरे पिताजीके बारेमें जब यह कहा कि "अुन्हें तो खूब रिश्वत मिलती होगी," तब मुझे कितना बुरा लगा था सो मैंने कहीं लिखा ही है। कारवारके अेक असंस्कारी घनश्याम वाणी नामके मास्टरके प्रति अपनी चिढ़की बात भी मैंने कहीं लिखी होगी। अिस बेचारेके जीवनकी नीति ही हलकी थी। अिसलिअे यद्यपि मैं मराठी दूसरी कक्षामें ही था, फिर भी मेरे मनमें अुसके प्रति तिरस्कार ही जागा था।

मेरे मनमें शिक्षकोंके प्रति जो आदर-भाव प्रयत्नपूर्वक भरा गया था, अुसे अिस प्रकारके किस्सोंसे भारी आघात पहुंचा। बड़ा होने पर मुझे अैसा लगता था कि अिससे मेरी अपार हानि हुअी। परन्तु आज जब मैं तटस्थताके साथ विचार करता हूं तो मुझे अिस विषयमें कोअी शंका नहीं रहती कि अुस सबसे मुझे लाभ ही हुआ। यह माननेसे मनमें संतोष जरूर होता था कि जितने शिक्षक हैं वे सब अच्छे हैं, चरित्रके लिअे दीपस्तंभ हैं, पवित्र पुरुष हैं; परन्तु अिस वृत्तिके पीछे श्रद्धाकी अपेक्षा भोलापन ही अधिक था। और भोलापन किसी भी प्रकारसे आध्यात्मिक वृत्ति नहीं कहला सकती। यह बात मैं बिलकुल बचपनमें ही सीखा था कि राजनिष्ठ प्रजाजनमें जिस तरह खराब राजाके प्रति तिरस्कार होने पर भी राजाकी गद्दीके प्रति निष्ठा हो सकती है, अुसी प्रकार शिक्षक शिक्षक है अिसीलिअे अुसके प्रति आदरका भाव रखना चाहिये और अुसके व्यक्तिगत दोषोंकी अुपेक्षा करनी चाहिये। शालाके दूसरे विद्यार्थियोंमें यह भाव नहीं था, अिसलिअे अुनसे शिक्षकके प्रति तिरस्कार व्यक्त किये बिना रहा नहीं जाता था। मैं अिस दोषसे स्वाभाविक रीतिसे बच गया और यह लाभ मुझे सारे जीवनमें बहुत मददगार हुआ है।

बालकोंके मनमें यह विचार अुदित हो ही नहीं सकता कि हमारे माता-पिता हमारे लिअे अत्यन्त पूज्य व्यक्ति होने पर भी दुनियाके लिअे सामान्य व्यक्ति ही होते हैं। माता-पिताके प्रति पूज्य भाव व्यक्तिगत सम्बन्धको लेकर होता है। अिसलिअे अिसमें माता-पिताकी योग्यता-अयोग्यताका संबंध नहीं होता। यह सूक्ष्म भेद मैं शिक्षकोंके संबंधमें समझ सका और विकसित कर सका। अिसे मेरे जीवनकी अेक बड़ी पूंजी

ही समझना चाहिये । अिसे मैं धर्मानुभव अिसलिअे कहता हूं कि अिस प्रकार भेद करना सीख कर मैं बहुतसी परेशानियों और झंझटोंसे बच गया । अिसके बाद कौटुम्बिक जीवनमें माता-पिताके छोटे-बड़े स्वार्थ, पक्षपात या अेकांगिता देखने पर भी और धार्मिक विचारोंमें भी अुनका भोलापन नजर आने पर भी अुनके प्रति मेरा आदर-भाव कम नहीं हुआ, और मेरे कर्तव्यके विषयमें भी कोअी अुलझन पैदा नहीं हुअी । शिक्षकोंके प्रति आदर-भाव सीखनेके दिनोंमें अुनके स्पष्ट दोषोंकी ओर ध्यान जानेसे ठोकर लगनेके समान जो अनुभव होता था वह सुखावह नहीं था, परन्तु अपने जीवन-निर्माणमें अुस अनुभवको मैं महत्त्वका मानता हूं ।

आगे चलकर, जब मैं अंग्रेजीकी छठी कक्षामें था, अेक बार हमारी वाग्वर्धिनी सभामें चर्चाका यह विषय रखा गया था : 'प्रत्येक युवकको अपनी दृष्टिमें किसी विख्यात व्यक्तिको आदर्शके रूपमें रखना चाहिये या नहीं ?' मेरे विरोधी पक्षके विद्यार्थीने कहा था कि किसी व्यक्तिको आदर्शके रूपमें स्वीकार किये बिना मनुष्यका विकास हो ही नहीं सकता । अुसने शिवाजी, नेपोलियन आदि कितने ही लोगोंके नाम बताये । मैंने कहा कि श्रेष्ठ पुरुषोंके सद्गुणोंकी कदर तो होनी ही चाहिये; परन्तु अपने लिअे आदर्शके तौर पर किसी आदमीको कैसे सामने रखा जा सकता है ? अुसमें दोष होते हैं, संकुचितता होती है और अुसके जमानेका पिछड़ापन भी होता है । आदर्श तो तात्त्विक चित्र —abstract principle— ही हो सकता है । हमें अनुभव और ध्यानके अनुसार अिस चित्रको भी सुधारते रहना चाहिये ।

अपनी दलील मैंने अितने सचोट तरीकेसे पेश की थी और मेरी दृष्टिसे मेरा पक्ष अितना स्वयंसिद्ध था कि मेरा विश्वास था, प्रौढ़ विचार करने-वाले अध्यक्ष वाद-विवादका अुपसंहार करते समय मेरे ही पक्षका समर्थन करेंगे; परन्तु हमारे कित्तूर मास्टरने वैसा नहीं किया । मेरी ओर अिस प्रकार देखकर, मानो मुझे समझाते हों, मुझसे अपील करते हों, अुन्होंने कहा कि किसी व्यक्तिको आदर्शके रूपमें स्वीकार किये बिना कोअी चारा ही नहीं है । अिसके बिना मनुष्य अुन्नति कर ही नहीं सकता । कित्तूर मास्टर

हमारे संस्कृतके शिक्षक थे। जितने सख्त, अुतने ही विद्यार्थी-वत्सल। मैं जब संस्कृतमें छंदोबद्ध रचना करता तो अेक ओर तो मुझसे कहते कि अपना समय क्यों बिगाड़ता है, और दूसरी ओर खुद अपना काफी समय बिगाड़ कर मेरी कविता सुधार देते थे। अुनके प्रति आदरके अलावा मेरे मनमें कुछ भक्तिभाव भी था। अुनकी बात सुनकर मुझे दुःख हुआ। मैंने सोचा, अितनी बात भी ये समझ नहीं सकते कि मनुष्य तो अपूर्ण ही होता है! अपूर्ण व्यक्तिको ध्यानमूर्तिके रूपमें सामने रखा ही कैसे जा सकता है? मैं तो पौराणिक देवोंकी भक्ति करते समय भी अुनके दोषोंसे परेशान होता हूं, तब फिर केवल मनुष्यको आदर्शके रूपमें कैसे सामने रखा जाये?

मैंने मनमें कहा—"आप जो चाहें कहें। मेरा विश्वास है कि मेरी भूमिका ही सही और श्रेष्ठ है।"

२५

अेक व्रत

पूज्य बापूजीने कोचरबमें सत्याग्रहाश्रमकी स्थापना की थी। मैंने बड़ोदा नहीं छोड़ा था। गिरनारका दत्तात्रेय शिखर देखनेके लिअे जूनागढ़ जाकर मैं वापस आया था। बादमें अहमदाबाद गया और पूज्य बापूजीके आश्रममें मेहमानके रूपमें रहा। अिसी समय अहमदाबादमें राजनीतिक और सामाजिक परिषदें हुअी होंगी। सामाजिक परिषदके अध्यक्ष रेंगलर परांजपे थे। यह किस वर्षकी बात है, अिसका खयाल करानेके लिअे ही यह सब विवरण लिखा है।

आश्रमके प्रारंभिक कालमें श्री पूंजाभाअी बहुधा वहां आया करते थे। प्रार्थनाके अन्तमें राजचन्द्रके जो लेख पढ़े जाते थे अुन्हें सुनकर पूंजाभाअीको परम सन्तोष होता। जैन लोग समय समय पर अनेक व्रत लिया करते हैं। अुस समाजमें व्रत लेनेवालेकी बहुत प्रतिष्ठा होती है।

जिस दिन वहां पहुंचा अुसी दिन कारणवश मैंने बापूजीसे कहा कि "मैं सूर्यास्तके बाद भोजन नहीं करता। भोजन करते समय मौन

रखता हूं, और अेक बार भोजन परसा लेनेके बाद कुछ नहीं लेता। चीनीका मैंने त्याग कर रखा है।" बापूजी पर अिसकी अच्छी छाप पड़ी। अुन्होंने पूंजाभाअीसे कहा—"काकासाहबने अमुक अमुक व्रत लिये हैं।" पूंजाभाअीकी दृष्टिमें मेरा मान बढ़ गया। बापूजीने मुझसे पूछा कि "ये व्रत कितने दिनोंसे हैं?" मैंने प्रत्येक व्रतका ब्योरा दिया—"अितने वर्षोंसे यह चल रहा है।" अुन्होंने पूछा—"परन्तु कितने वर्षोंके लिअे ये व्रत लिये हैं?" मैंने कहा—"अैसा तो कुछ नहीं है, जब चाहूं छोड़ सकता हूं।" अुन्होंने फिर पूछा—"हर वर्ष नये सिरेसे व्रत लेते हो?" मैंने कहा—"अैसा भी नहीं है।"

"तो फिर रोज सुबह चौबीस घंटोंके लिअे लेते होगे?"

"नहीं, बापूजी। अैसा भी नहीं है। दुपहरको चाहूं तो दुपहरको भी छोड़ सकता हूं।"

बापूजीकी धारणा थी कि व्रत स्वेच्छासे लिया हुआ बन्धन है, जिसके निश्चित समय तक तोड़े न जा सकनेका नियम होना चाहिये। मेरी बात अैसी नहीं थी। मनका निश्चय चले तब तक पालूं, निश्चय बदल जाये तो अुसी क्षण छोड़ दूं।

मैंने कहा—"परन्तु मेरा विश्वास है कि मेरा यह नियम वर्षों तक चलेगा। मुझे अिससे कोअी अड़चन नहीं होती। छोड़ देनेका कोअी कारण नहीं। परन्तु कारण आ ही जाये तो मुझे अैसा न लगेगा कि जो नियम अितने वर्षों तक पाला है अुसे अब छोड़ दूंगा तो अितने वर्षोंकी साधना पर पानी फिर जायेगा।"

पूज्य बापूजीने यह बात वहीं छोड़ दी। वे जब यात्रा पर होते तो श्री मगनलालभाअी गांधी हमें परोसते थे। किसी किसी दिन वे अमियां या अैसी ही कोअी वस्तु परोसना भूल जाते तो अुसे लेकर मेरे पास आते और बहुत पछतावा करते। भोजनके पश्चात् जब मौन टूटता तो मैं अुनसे कहता—"सारे जीवन तरह तरहकी वस्तुअें खाकर मैं अैसा अघा गया हूं कि अब कोअी वस्तु खानेको नहीं मिलती तो मुझे कुछ दुःख नहीं होता।"

अिस बातको बरसोंका समय हो गया। हम कोचरब छोड़कर वाडज गये। पहले-पहल तम्बूमें रहे। बादमें झोंपड़ियां बांधी। आगे जाकर तो हमारे बहुतसे मकान तैयार हो गये। मेरा काम बेहद बढ़ गया। नहाने, खाने और सोनेके लिअे ही मैं घरमें रहता था। बाकी सारे समय घरमें या बाहर कक्षाअें चलती होतीं, चर्चा करता होता, लेख लिखाता होता, आसन बुनता होता अथवा नदीमें विद्यार्थियोंको तैरना सिखाता होता। अेक दिन मैंने सोचा कि सारे दिन मैं अपने काममें रहता हूं। भोजनके समय ही शंकर, बाल, काकी और मैं साथ होते हैं और जब मैं भोजन करने बैठता हूं तो मेरा मौन शुरू हो जाता है। बालकोंको मेरा सहवास मिलता ही नहीं। अुनके साथ बातचीत और विनोद होता ही नहीं। अिनके प्रति मैं अपने कर्तव्यसे च्युत हो रहा हूं। भोजनके लिअे जाकर मैं पटे पर बैठा। गिरधारी साथ था या नहीं सो याद नहीं पड़ता। मैंने कहा, "भोजनके समय मौन रखता हूं, अिसलिअे बालकोंके साथ वार्ता-विनोद होता ही नहीं। आजसे मैं अपना मौन छोड़ देता हूं।" मुझे अैसा जरा भी नहीं लगा कि मेरी अितने-अितने वर्षोंकी तपस्याका भंग हो रहा है। मेरे मुखसे मौन छोड़नेकी बात सुनते ही बाल अपने पटे परसे अुठा और गेंदकी तरह अुछल कर धड़से फिर बैठ गया और किल-किलाया — "मजा! मजा! मजा!!"

बालकोंके प्रति मैंने कितना अन्याय किया था और अुन्हें अेक विषयमें कितना आनन्द-वंचित रखा था, अिसका प्रत्यक्ष माप बालकी अिस अंगद-कूदसे हो गया। मनमें मुझे संतोष हुआ, परन्तु मैं कुछ बोला नहीं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि काकीको भी अिससे आनन्द हुआ। अुन्होंने मन ही मन अीश्वरका अुपकार माना होगा, परन्तु अिसकी चर्चा कभी नहीं की। यदि मेरे अिन व्रतोंसे मुझे ही कष्ट झेलने पड़ते तो अिसी कारणसे मैं अुनसे किसी भूतके समान चिपटा रहता। परन्तु मैं अितना जड़ था कि मुझे यह कभी सूझा ही नहीं कि मेरे अिन व्रतोंसे दूसरोंको कितना कष्ट होता है। जब सूझा तो अुन्हें छोड़ देनेमें अेक क्षणका भी विलम्ब न लगा। अिस स्वभावके कारण ही मैं मानता हूं कि मैं जड़ तो हूं, परन्तु बूढ़ा नहीं हूं।

मेरी व्रतकी कल्पना समयके बन्धनके साथ बंधी हुअी नहीं होती, यद्यपि मैंने अेक बार दो वर्षके लिअे सुपारी न खानेका और लाला लाजपतरायके निर्वासनके बाद (शायद १९०६ की बात होगी) छह वर्षके लिअे चीनी न खानेका व्रत लिया था। परन्तु समयका बन्धन भविष्यको बांधनेवाला होता है, अिसलिअे वह मेरे खयालसे सदोष हो सकता है। जिस भविष्यको हम जानते नहीं अुसे बांध रखनेमें भूल होनेकी संभावना रहती ही है।

सत्य, अहिंसा आदि जीवन-व्रतोंकी बात अलग है।

२६

सत्यका स्वरूप और अुसकी अुपासना

मैंने कहीं लिखा है कि सत्यका विरोधी तत्त्व असत्य नहीं, परन्तु सत्ता है। असत्य बेचारा पंगु है। असत्य असत्यके रूपमें चल ही नहीं सकता। अुसे सत्य होनेका दावा करना पड़ता है। असत्य शब्दके अक्षर देखकर मैंने कहा था—"अरे, अिसके पेटमें तो सत्य है!" सत्यके आगे सिर झुका कर, सत्यके कपड़े ओढ़कर, सत्यकी छाप चन्दनके समान माथे पर धारण करके ही अुसे व्यवहारमें चलना पड़ता है। असत्य अपना स्वार्थ साधता हुआ भी आन तो सत्यकी ही स्वीकार करता है। अिसलिअे विजय सत्यकी ही होती है।

परन्तु सत्ताके बारेमें अैसा नहीं है। सत्ता सत्यका खुले मैदान विरोध करती है। सत्ता कहती है—"सत्यकी मुझे गरज नहीं। सत्य चाहे जैसा हो। वह बेचारा कोनेमें भले बैठे। व्यवहार चलेगा मेरे हुक्मके अनुसार ही। राज मेरा चलनेवाला है, सत्यका नहीं।"

अिस प्रकार सत्ता खुल्लमखुल्ला सत्यको अपमानित करके मानव-समाजको अपनी छत्रछाया तले लाना चाहती है, जब कि असत्य सत्यका ही राज्य स्वीकार करके अुसकी जूठन पर अपमानित दशामें निभाव करना चाहता है।

मैंने बचपनसे ही देखा है कि सत्य बोलना, सत्यकी घोषणा करना और सत्यकी खोज करना मनुष्यके लिअे सहज है, स्वाभाविक है। सच पूछा जाये तो सत्यनिष्ठाका अभ्यास करना ही नहीं पड़ता। समाज और खास करके मां-बाप जाने-अनजाने बालकोंमें असत्य-निष्ठा अुपजाते हैं, विकसित करते हैं। जब अिस असत्य-निष्ठाके दृढ़मूल हो जाने पर मनुष्य पछताता है, तब अुसे मूल स्वाभाविक स्थिति पर आनेके लिअे प्रयत्न करना पड़ता है——असत्य-निष्ठा अुतारनेका। अिसमें यदि वह सफल हो गया तो सत्यनिष्ठा प्रकट हो जाती है, क्योंकि वह तो पहलेसे वहां मौजूद थी ही।

छोटे बच्चे जैसा देखते हैं, समझते हैं और अिच्छा करते हैं वैसा सीधे-सीधे अपनेको आये अैसी भाषामें कह डालते हैं। आगे चलकर जब अिससे असुविधा होती है तो वे अुलझनमें पड़ते हैं। कितने ही बालकोंको बहुत परेशान होने पर भी यह सूझता ही नहीं कि सत्यके अलावा और बोला क्या जाये। अितना ही नहीं, सत्यकी आवश्यकता होने पर चुप-चाप बैठ जाना और अिस प्रकार अपने-आपको बचा लेना भी अुनके लिअे असंभव हो जाता है। किसी मांत्रिकके मंत्र बोलने पर जिस प्रकार सर्प लाचार होकर अपने बिलसे बाहर आ जाता है——बेमन आता है, परन्तु आये बिना रह नहीं सकता——अुसी प्रकार मनुष्य सत्यकी मांग होने पर स्वाभाविक रीतिसे मंत्रमुग्धके समान सत्यका अिकरार कर बैठता है। यह बल है सत्यका——और अखंड सत्यव्रत पालकर सत्यमूर्ति बने हुअे व्यक्तिका।

सबसे पहले हम बालकोंको जो असत्य सिखाते हैं वह शिष्टाचार या तकल्लुफके द्वारा। शिष्टाचार कभी-कभी सज्जन लोगों द्वारा प्रचलित किया हुआ और निर्दोष माना जानेवाला झूठ ही होता है। जो मनमें हो अुसे छिपा लेना और जो मनमें न हो अुसे बतानेका दिखावा करना; और दिखावा दिखावा नहीं परन्तु मनके भीतर बसा हुआ है——मनके भीतरसे पैदा हुआ है अैसा ढोंग करना; जैसे हों अुससे अधिक अच्छे और संस्कारी होनेकी छाप डालना और आशा करना कि अिस तरहका दिखावा धीरे-धीरे हमारे अन्दर अुतरेगा और जो कृत्रिम रूपसे सत्य

माना गया है वह कुछ समय बीतने पर सचमुच सत्य बन जायेगा — यह है शिष्टाचारका सच्चा स्वरूप।

अिस शिष्टाचारमें से ही धीरे-धीरे सत्यनिष्ठाको घटाकर प्रसंग-निष्ठा सिखाअी जाती है, जिसे युक्ति या चतुराअी भी कहा जाता है। यदि सत्यका द्रोह किये बगैर युक्तिको काममें लाया जा सके तो मनुष्य मानो जीत गया; परन्तु होता यह है कि सात्त्विक वृत्तिवाले लोग भी युक्तिका प्रयोग करके सत्यको ढंक देते हैं और कहते हैं कि अिसमें हमारा स्वार्थ तो था ही नहीं। सात्त्विक वृत्तिसे ही हमने सब कुछ किया है। सबका सच्चा और संपूर्ण हित जिसमें समाया हुआ है वही सत्य है — अिस व्याख्याके अनुसार हमारी युक्ति अुच्च कोटिका सत्य है, यह कहनेमें भी वे संकोच नहीं करते।

अैसे लोगोंको अितना तो याद रखना ही चाहिये कि अुनके अिस कार्यके पीछे स्वार्थ भले ही न हो, फिर भी अितना आग्रह या अहंकार तो होता ही है कि दुनियाका घटनाक्रम अमुक ढंगसे न चले बल्कि हमारी पसंदके ढंगसे चले। और जहां अहंकार आया वहां सत्य कुछ तो मलिन हो ही गया।

यह सब सात्त्विक लोगोंके हाथों सत्यकी हलाकानीकी बात हुअी। पर जब रजोगुणी अथवा तमोगुणी लोगोंके हाथोंमें परिस्थितिको सुधारनेकी बात आती है तब सत्यका द्रोह करनेवाली वृत्ति नीचे दी गअी वृत्तियोंमें से कोअी अेक होती है :

मनुष्य सत्यका द्रोह अिस डरसे करता है कि शरीरको तकलीफ होगी, कष्ट सहन करना पड़ेगा, मार खानी पड़ेगी अथवा हानि अुठानी पड़ेगी। देहकी ही परवाह करनेवाले लोग पहले ही मौके पर सत्यको छोड़ देनेके लिअे तैयार रहते हैं। सत्य और भीरुताका मेल कभी हो ही नहीं सकता। यह भीरुता निकाल देनेकी सर्वोत्तम साधना है शरीरकी कष्ट-सहिष्णुता।

हदसे ज्यादा श्रम करनेकी, गरमी-सरदी और भूख-प्यास सहन करनेकी, प्रियजनोंका वियोग और अनिष्ट लोगोंका सहयोग या संयोग सहन

करनेकी तैयारी जिसकी न हो अुसके लिअे अध्यात्म है ही नहीं। रोग अथवा वृद्धावस्थाके आ जाने पर अुसे शांतिसे सहन करनेकी और धर्मके अनुकूल जितना अिलाज हो सके अुतना करके संतोष माननेकी तैयारी जिसकी न हो और जो दुःख और चिंतामें डूब जाता हो, वह सत्यका अुपासक नहीं हो सकता; तब फिर जीवन-अुपासक तो हो ही कहांसे? जो शरीरके प्रेममें पड़ गया अुसने मानो जीवनका सारा मजा खो दिया।

जिस मनुष्यमें स्वाभिमान नहीं रह जाता वह भी सत्यका द्रोह झट-झट कर बैठता है। जिससे मैं डरता हूं अुससे ही झूठ बोलूंगा। जब मनुष्यको अैसा लगता है कि सच कहूंगा तो वह नाराज हो जायेगा और अुसकी नाराजीसे मेरा काम नहीं चलेगा, तभी मनुष्य अुससे झूठ बोलनेमें प्रवृत्त होता है।

सच्चा स्वाभिमानी मनुष्य किसीके आगे झूठ बोलनेके पहले विचार करेगा: "यह कहांका अितना बड़ा मनुष्य है कि जिसके लिअे झूठ बोलनेकी हद तक मैं छोटा बनूं? क्या अिससे मैं अितना हलका हूं कि अिसके सामने झूठ बोलकर मैं बच जाअूं? नहीं, जो सच होगा वही कहूंगा। मेरा जो होना होगा सो होगा। ज्यादासे ज्यादा यह मेरा कितना नुकसान कर सकता है? मैं झूठ बोलूं और मेरे ही सामने मेरे स्वाभिमानका हनन हो, अिससे नुकसान ही सह लेना क्या बुरा है?"

अिस प्रकार सत्यके साथ अपने स्वाभिमानको जोड़ देनेसे मनुष्य अपने-आप अध्यात्मके मार्ग पर चला जाता है।

स्वाभिमानका अभाव, स्वार्थ और भय — ये तीनों बातें सत्यकी विरोधी हैं। जब अैसा कहा जाता है कि अमुक मनुष्य स्वाभिमानकी रक्षाके लिअे झूठ बोला, तब सचमुच तो वह मनुष्य स्वाभिमानको खोकर बाहरी सामाजिक मान प्राप्त करनेका या अुसकी रक्षाका प्रयत्न करता है। परिणामतः वह पहले अपने आगे और फिर समाजके आगे भी पामर बनता है। जब मनुष्यको अैसा लगता है कि सत्यसे शरीर श्रेष्ठ है, सत्यसे सलामती श्रेष्ठ है, सत्यसे स्वार्थ श्रेष्ठ है, सत्यसे प्रतिष्ठा श्रेष्ठ है, सत्यसे समाज श्रेष्ठ है, तब वह अपने आत्माको अपमानित करता है। प्रियतम

आत्माका अपमान या अुसका अिनकार किये बगैर मनुष्य असत्यकी ओर जा ही नहीं सकता, क्योंकि सत्य और आत्मा भिन्न वस्तुअें नहीं हैं।

और जब मनुष्य सत्ताके लिअे — दूसरेके अूपर अधिकार प्राप्त करनेके लिअे सत्यका द्रोह करता है, तब वह सामनेके मनुष्यके आत्माका भी अपमान करता है, अथवा अुसका अिनकार करता है।

सच बात यह है कि आत्मा दो हो ही नहीं सकते। सामनेके मनुष्यके आत्माको जीतनेका सच्चा अर्थ है, अुसके हृदय तक पहुंच जाना; दो व्यक्तियोंके अन्दर रहनेवाले आत्माका अभेद पहचानना और आत्मैक्य सिद्ध करना। अिसके बदले जो मनुष्य बाहरसे दूसरे पर सत्ता चलाना चाहता है वह अपना भी अपमान करता है और सामनेके मनुष्यका भी। जो सामनेके मनुष्यकी स्वतंत्रताकी कद्र नहीं कर सकता, अुसे न सत्यका दर्शन हुआ और न आत्माका साक्षात्कार हुआ। . . . अैसा मनुष्य अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा कर ही नहीं सकता। सत्य, आत्मा और स्वतंत्रता मूलमें अेक ही वस्तु हैं। (अिसमें सत्यका अर्थ है—जीवनात्मक सत्य, क्रियात्मक सत्य)। स्वार्थ, भीरुता, लोभ और 'अीश्वरभाव' — अर्थात् सत्ता—अुसके विरोधी हैं।

अूपर जो-कुछ लिखा है वह जान-बूझ कर निबंधके रूपमें लिखा है; परन्तु अुसके अेक अेक वाक्यके पीछे ठोस धर्मानुभव रहा है। अुसका विवरण लिखने योग्य न मालूम हुआ अिसलिअे अिसे निबंधका रूप दे दिया है।

२७

जिज्ञासा-युग

बचपनके धर्मानुभवके अन्दर सदाचारका खयाल, कुटुम्ब-हृदयका साक्षात्कार, ओश्वर-विषयक रूढ़ कल्पनाओंका परिचय और अुनका स्वीकार तथा अपने मन पर संयम द्वारा काबू पानेकी आवश्यकता — अितनी ही बातें मुख्य रूपसे आती हैं।

ओश्वर है या नहीं? वह है ही, अैसा माननेका कोअी कारण है या नहीं? प्रार्थनामें कोअी अर्थ है या नहीं? कर्मके नियमका अर्थ क्या है? कर्मके सिद्धान्तके अलावा अध्यात्मशास्त्र जैसी कोअी अलग और विशेष वस्तु है क्या? अिस प्रकारके विचार और अुनके विषयमें हुअे अनुभव अिसके बादमें आते हैं।

प्रथम कालखंडमें मां-बापके पाससे और सामाजिक जीवनसे प्राप्त होनेवाली धार्मिक कल्पनाओंको अपनाने और हजम करनेका ही काम मुख्य रहता था। दूसरे युगमें तर्कबुद्धिकी जागृति मुख्य थी। प्रत्येक वस्तुकी जांच कर लेना, पवित्रसे पवित्र मानी जानेवाली बातको भी बुद्धिसे परख लेनेकी हिम्मत करना, अधकचरी बुद्धिसे और कच्चे-पक्के अनुभवसे मनमें जो सिद्धान्त निश्चित हुअे हों अुनसे चिपटे रहना और सम्पूर्ण दुनियाकी बुद्धि और अनुभवके सामने भी अपने अैसे सिद्धान्तोंको खड़ा करना — यह सब अिस युगका कार्यक्रम था।

चार या पांच वर्षके कालको भी संस्कृतमें युगका नाम दिया गया है। कॉलेजके चार वर्षोंके अन्दर अूपर बताये हुअे सब फेरफारोंमें से निकलकर मैं गहराअीमें अुतरने योग्य हुआ, अिसलिअे अिन चार वर्षोंको 'जिज्ञासा-युग' नाम देनेका जी होता है। पहले मैंने माना था कि अिस युगमें मैंने नास्तिकता सीखी थी। परन्तु आगे चलकर पुराणके अेक अृषिने आश्वासन दिया कि 'जिज्ञासा नास्ति नास्तिक्यम्।'

पक्की बात जाननेकी दृष्टिसे अेक-अेक वस्तुको बुद्धिकी निहाअी पर तर्ककी हथौड़ीसे ठोंक-पीट कर देख लेना और अिस प्रक्रियामें जो कुछ

खरा अुतरे अुसे ही पल्ले बांधना, यह नास्तिकता नहीं कहलाती। केवल कुतूहल (Curiosity) सच्ची जिज्ञासा नहीं होती। जिज्ञासा पारमार्थिक (Serious) चीज होती है, प्रयोग-परायण होती है। जब तक जाननेकी सब बात जान नहीं ली जाती तब तक जिज्ञासा शान्त नहीं होती और किसीको शान्त होने भी नहीं देती। जानने योग्य सब-कुछ जाननेके लिअे जितना भी अुत्पात करना पड़े वह सब करनेमें अुसे जरा भी संकोच नहीं होता। अिसीलिअे अिस चार वर्षके कालको मैंने जिज्ञासा-युग कहा है।

बालकोंके नये दांत अुगते हैं तब अुनके साथ जिस-तिस वस्तुको काटकर देखनेकी अिच्छा भी अुगती है। मानो दांतमें वैसी खुजली छूटती है। अिसी प्रकार अेक निश्चित अुम्रमें तर्कबुद्धि भी प्रबल होती है। यों तो जब मैं तीसरी अंग्रेजीमें था तभीसे हरअेक वस्तुको, विचारको या कल्पनाको ललकारना आरम्भ हो गया था। छठी और सातवीं अंग्रेजीमें हमारी वाग्वर्धिनी सभाके कारण अिस वृत्तिमें थोड़ी घीकी आहुति पड़ गअी। परन्तु बुद्धिवादने सचमुच जोर पकड़ा कॉलेजके पहले वर्ष और विशेष रूपसे दूसरे वर्षमें। 'बुद्धिस्तु शरणं मम' — यही मानो मेरा जीवन-सूत्र बन गया था। अिसमें 'तु' शब्दका काफी महत्त्व है। वैसे सब बातें मैं सुनता था, महत्त्वकी बातोंको महत्त्व देता था, बड़े लोगोंके वचनोंके प्रति आदर रखता था, जहां नहीं जानता था वहां राह देखनेका धीरज बताता था — यह सब सही है। परन्तु शरण जाता था मैं बुद्धिकी ही, आखिरी आधार रखता था अेकमात्र अपनी बुद्धि पर ही। और मेरा आचरण तो अुस बुद्धिके निर्णयके अनुसार ही होता था।

२८

अेक निश्चय तो हुआ

अीश्वर है या नहीं, अिस प्रश्नने मुझे जितना परेशान किया अुससे भी अधिक कठिन यह प्रश्न सिद्ध हुआ कि "प्रार्थना करनेसे क्या लाभ?"

'अीश्वर है' अिसे सिद्ध करना जिस प्रकार कठिन था अुसी प्रकार या अुससे भी अधिक कठिन यह सिद्ध करना था कि अीश्वर नहीं है। अपनी नास्तिकताके दिनोंमें मुझे लगता था कि अीश्वर नहीं है यह निश्चयपूर्वक कहनेवालोंकी बुद्धि कितनी मन्द होनी चाहिये! अिसीलिअे कट्टर नास्तिक तो मैं बन ही नहीं सका।

लेले नामके अेक अवसर-प्राप्त अिन्जीनियर थे। बिलकुल नमूनेके आदमी। हवा भले कैसी भी क्यों न हो, रोज सुबह, सूर्योदयके पहले, स्नान कर लिया करते थे। कसरत करके अुन्होंने अपना शरीर अन्त तक नीबूके समान दमकता हुआ रखा था। वे बड़े कर्मकाण्डी थे। गायत्रीका नियमित जाप करते थे, सूर्य-नमस्कार तो करते ही थे। सारे वैदिक मंत्र अुन्हें कंठस्थ थे। कर्मकाण्डमें कहीं भी कमी नहीं आती थी। फिर भी ये महाशय नास्तिक थे। मुझसे कहते --"काकासाहब, हम 'गायत्र्यै नमः', 'सावित्र्यै नमः' आदि कह कर वैदिक छन्दोंको नमस्कार करते हैं, तो 'आयम्बिक पेंटामीटर, अलेक्जैंड्रिन' आदि अंग्रेजी छंदोंको नमस्कार क्यों नहीं करते? गंगा नदीकी पूजा करते हैं और लड़कियोंको नदीके नाम देते हैं, तो फिर अपनी लड़कियोंके नाम टेम्स, मिसूरी, मिसिसिपी आदि भी क्यों न रखें? सच कहूं? अीश्वर जैसी कोअी वस्तु है ही नहीं और हम जो धर्म-धर्म कहा करते हैं वह सब ढकोसला है।"

मैंने आश्चर्य-चकित होकर पूछा—"तो आप रोज सबेरे अुठकर संध्या क्यों करते हैं? अपने कर्मकाण्डमें तो आप जरा भी चूकते नहीं!"

अुन्होंने कहा—"बात यह है कि मैं तो जानता हूं कि अीश्वर नहीं है, परन्तु निश्चयपूर्वक कैसे कहा जा सकता है? मुझसे भूल हो रही हो और अीश्वर हो ही तथा मरनेके बाद अुससे भेंट हो, तो अुसके सामने

नीचा देखनेके बदले यह कह सकूं कि 'अरे! मैं तुझे पहचानता या मानता नहीं था, परन्तु तेरा देना चुकाता आया हूं। मैं कुछ तेरा गुनहगार नहीं हूं। अपना बही-खाता देख ले।' अिसीलिअे मैं यह सब करता हूं।" बादमें वे बोले—"देखो भाअी, वी मस्ट अर ऑन दि सेफ साअिड।" (हम गलती करें तो वह भी अैसे ढंगसे कि सुरक्षित रहें)।

प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्यको भाअी लेलेके समान ही लगता है कि हो सकता है, शायद अीश्वर हो भी!

कॉलेजमें जब मैं बुद्धिवादकी पुस्तकें पढ़ने और अुन पर विचार करने लगा, तबसे मैं पूर्णतः संशयवादी बन गया। मैंने अपने मनमें निश्चय कर लिया कि 'अीश्वरकी जैसी व्याख्या की जाती है वैसा कोअी अीश्वर है या नहीं, यह हम नहीं जानते। शायद हो; शायद न भी हो। यदि हो तो अुसे व्यक्त होना ही चाहिये यह जरूरी नहीं। न हो तो कुछ खास बिगड़नेवाला भी नहीं। परन्तु अीश्वर हो तो जैसी अिन्द्रियां, जैसा मन, और जैसी बुद्धि हमारे पास है अुनकी शक्तिकी मर्यादाका विचार करते हुअे अितना तो सौ-फी-सदी निश्चयके साथ कहा जा सकता है कि यदि अीश्वर है तो अुसे हम जान नहीं सकते। अितना निश्चय हो जाना भी कोअी छोटी-मोटी बात नहीं है। यदि अीश्वर होता और यह विश्वास न होता कि हम अुसे जान नहीं सकेंगे, तो संदेहका लाभ अीश्वरको देकर मनुष्यको अपना कितना जीवन अुसकी खोजमें बरबाद कर देना पड़ता! जितने साधन मनुष्यके पास हैं—मन, बुद्धि, अिन्द्रिय आदि—अुनके द्वारा तुम्हारी व्याख्यावाला अीश्वर जाना ही नहीं जा सकता, अितना सिद्ध हो गया कि छुट्टी मिली। अब हम दूसरे कामोंमें लग सकते हैं।'

[कॉलेजमें रेखागणित मेरा अत्यन्त प्रिय विषय था। केसीकी 'सीक्वेल टु यूक्लिड' नामक रेखागणितकी अत्यन्त कठिन पुस्तकमें से अुदाहरण लेकर मैं बैठता था और अुन्हें हल करनेके बाद गणितके आनन्दका अनुभव करता था। पुराने समयमें अिस गणितके तीन प्रश्न भूमिति-वेत्ताओंको चक्करमें डालते थे: परिधिका सम-चतुर्भुज कैसे बनाया जाये? किसी भी कोणके तीन समान भाग कैसे किये जायें? तीसरा प्रश्न मैं भूल गया। सदियों तक अिन तीनों प्रश्नोंका हल खोजा गया, किन्तु किसी प्रकार

वह हाथ न आया। पीढ़ी-दर-पीढ़ी खोज चलती ही रही। अन्तमें अेक महागणिती जागा। अुसने अपने गणिती मस्तिष्कको चला कर अकाट्य प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दिया कि रेखागणितकी रीतिसे अिन प्रश्नोंका हल नहीं निकल सकता। यह क्यों नहीं हो सकता, अिसके अत्यन्त सबल प्रमाण देनेके बाद ही अिन तीन प्रश्नोंके तीन भूतोंको गति मिली। अब अिन प्रश्नोंके पीछे कोअी नहीं पड़ता। अिसी प्रकार, स्याद्वादी अथवा अनिर्णयवादी लोगोंने अीश्वरके हाथ न आने पर अपनी मानसिक शक्तियों पर ही बुद्धि चलाकर सिद्ध कर दिया कि यदि अीश्वर हो तो भी अितना तो निश्चय ही है कि अुसे पहचाननेकी शक्ति हममें नहीं है।

चलो, कोअी तो निश्चय हुआ।]

२९

जीवन-परंपरा – १

कह नहीं सकता कि पूर्वजन्म और पुनर्जन्मकी कल्पना मुझमें कहांसे आअी। मुझे लगता है कि आर्य-मानसमें यह कल्पना अितनी गुंथ गअी है कि अिसका स्वतंत्र आस्तित्व रहा ही नहीं। जिस प्रकार यह विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं होती कि मैं हूं, मेरा शरीर है, शरीरको भूख लगती है, प्यास लगती है, नींद लगती है, और जिस प्रकार पलकके हिलनेकी ओर ध्यान जाने पर भी वह कोअी विशेष बात मालूम नहीं होती, अुसी प्रकारकी स्थिति पूर्वजन्म और पुनर्जन्मके सम्बन्धमें हमारी है।

अिसके मूलमें जीवनके धारावाहिक अस्तित्वका अनुभव है। हम अनुभवसे जानते हैं कि नदीका पानी अुद्गमकी ओरसे आता है, मुखकी ओर बहता है, क्षण क्षणमें बदलता है, फिर भी नदी वहीकी वही रहती है। नदीका पानी वहीका वही नहीं रहता, फिर भी प्रत्येक नदीके पानीमें अलग अलग कुछ खास असर होता है और कुछ विशेष प्रकारका स्थायित्व भी पाया जाता है। अृतुके अनुसार नदीमें जो परिवर्तन होते हैं अुनमें भी अेक प्रकारका सनातन नियम दिखलाअी पड़ता है। अिसीलिअे हम प्रत्येक नदीके अलग-अलग स्वभावकी बातें भी करते हैं।

हमारे पूर्वजोंने पानीको ही 'जीवन' नाम दिया है, क्योंकि अुसके बिना हमारा काम नहीं चलता और अुसके प्रवाहके साथ हमारे जीवनके प्रवाहका साम्य है।

हम रोज सोते हैं और दूसरे दिन अुठते हैं। हम जीवित हैं अिस भानको तथा बालपनसे विकसित किये हुअे ज्ञान, कौशल्य आदि समस्त संचित वस्तुओंको प्रत्येक निद्राके साथ सूर्य-चन्द्रके ग्रहणके समान ग्रहण लगता है। सोकर अुठने पर हमारा जीवन-सम्बन्धी भान—'मैं हूं' की संविद् अथवा चेतना—ग्रहण-मुक्त हो जाता है। विकसित किया हुआ ज्ञान आदि भी संविद्के साथ हमें फिरसे मिल जाता है। सोते समय जागृति मर जाती है और अुठनेके साथ अुसका पुनर्जन्म होता है। अिसी प्रकार मरणके साथ केवल स्थूल शरीरका ही नाश होता है और, बहुत हुआ तो, अैसा लगता है कि अिस दुनियाके साथ हमारे सम्बन्धका भी अन्त हो जाता है। अिस परसे यह कल्पना होना स्वाभाविक है कि नींदके अन्तके समान मरणकी स्थितिका भी अन्त होना ही चाहिये, जिसके बाद हम किसी नये ही संसारमें, नये शरीरमें फिरसे जीवित होते होंगे।

मनुष्य जन्म लेता है और सारे जीवन पुरुषार्थ करता है। अुसके लिअे यह मानना लगभग असंभव है कि मरणके साथ अुसके ज्ञान, कौशल्य, दक्षता, प्रेम आदिकी सारी कमाअीका अेकदम नाश ही हो जाता होगा। यह सब जाता कहां है? अिसका अनुसंधान करनेकी अिच्छा होनी स्वाभाविक है। जहां अनुसंधानके लिअे अवकाश नहीं होता, वहां मनुष्य कल्पना दौड़ा कर सन्तोष मान लेता है। अिसी प्रकार अुसने पुनर्जन्मकी कल्पना स्वीकार की। खेती करनेमें अुसे अनुभव होता है कि बीज मिट्टीमें पड़नेके बाद पानीसे सड़ जाता है। परन्तु अिसके साथ ही अेक अंकुर फूटता है और अुसमें जीवन आगे चलानेकी योग्यता होती है। मनुष्य मरनेके पूर्व बालकोंको जन्म देकर अपनी जीवन-परंपरा अबाधित रखता है। वह स्वयं पुत्रके रूपमें फिरसे जन्म लेता है और अेक जन्ममें की हुअी, तथा अधूरी रही, शोधको अुसके द्वारा नयी परिस्थितियोंमें और नये तरीकेसे आगे बढ़ाता है। यह संतान-परंपरा भी अेक प्रकारकी जीवन-परंपरा ही है। परन्तु अितनेसे मनुष्यको सन्तोष नहीं होता।

मनुष्य अनुसंधान करता है, ज्ञानकी अुपासना करता है, शास्त्रोंका अवलोकन करता है। अिसके लिअे अुसे साथीकी आवश्यकता होती है। अपनी योग्यताके कुशल या परिपक्व साथी हमेशा अुसे मिलते नहीं। बहुत बार साथियोंमें सहकार-शक्ति भी पूरी नहीं होती। अिसलिअे वह कच्चे मसालेसे साथियों और सहकारियोंको गढ़ लेता है। अैसे गढ़ कर बनाये हुअे साथियोंको शिष्य अथवा शागिर्द कहते हैं। अिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन-अुद्देश्यको आगे बढ़ा सकता है। अिस तरह शिष्य-परंपरा भी अेक प्रकारकी जीवन-परंपरा ही है।

अिसके अतिरिक्त भी परंपराका अेक प्रकार होता है। अुसमें पुत्र अथवा शिष्य पर आधार नहीं रखा जाता, बल्कि जो भी समुदाय अपनी प्रवृत्ति अथवा अनुसंधानका कार्य आगे बढ़ानेको तैयार हो, अुसे ही अपनी परंपराका अुत्तराधिकार सौंप दिया जाता है। अिस समुदायके लोगोंका बहुत लम्बे समय तक टिके रहना आवश्यक नहीं है। अेक व्यक्ति थोड़े दिनों तक अुस प्रवृत्तिमें रुचि रख कर काम आगे बढ़ाता है और बादमें किसी दूसरेको सौंप कर स्वयं निवृत्त हो जाता है या दूसरे काममें लग जाता है। अिस रीतिसे कंपनियां चलती हैं, संस्थाअें चलती हैं और ज्ञाति जैसे संघ भी चलते हैं। यह भी अेक प्रकारकी जीवन-परंपरा ही कहलाती है।

परम्पराका अेक नया प्रकार और भी बताना आवश्यक है। सामान्य जीवन व्यतीत करनेवाले असंख्य लोगोंके बीचमें कभी कभी कोअी असाधारण विभूति जन्म लेती है और वह विभूति अपना कोअी अैसा अद्‌भुत प्रभाव समाजके अूपर डालती है जो हजारों वर्षों तक खिलता ही रहे। अनुभवसे यह सिद्ध नहीं होता कि अैसी विभूतियां बार बार अेक ही कुल, जाति, वंश अथवा धर्ममें पैदा होती हैं। परन्तु अुनकी कृतियोंमें असाधारण साम्य दिखलाअी पड़ता है। कार्थेजके हेनिबाल और नेपोलियनकी कृतियोंको देखकर मनुष्य यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि हेनिबालने ही नेपोलियनके रूपमें फिरसे जन्म लिया था। बुद्ध भगवान ही फिरसे अीसाके रूपमें प्रकट हुअे और अुसी विभूतिने आजके युगमें गांधीका रूप धारण किया, अैसा सारा संसार आज मानता है। हमारे लोगोंने अिस प्रकारकी

मिशन-परंपराको अवतार-परंपराका नाम दिया है। बचपनमें हमने यह पद याद किया था—'ज्ञानाचा अेका आणि नामाचा तुका।' (ज्ञानदेवके अवतार अेकनाथ और नामदेवके तुकाराम हुअे)। महाराष्ट्रमें धर्म-जागृति फैलानेका काम जिन संतोंने किया अुनमें से चारके नाम अिस पदमें आते हैं। जो कार्य सुधारक ज्ञानदेवने किया वही अुद्धारक अेकनाथने किया; और जो भक्ति-सरिता दर्जी नामदेवने पंढरपुरमें प्रवाहित की अुसीको बनिया तुकारामने सागरके रूपमें परिणत कर दिया। अिन सन्तोंका जीवन-कार्य देखनेसे यह बात सहज ही गले अुतर सकती है। भोले लोगोंने अिस पर और रंग चढ़ा दिया कि ज्ञानदेवने ही अेकनाथका अवतार लिया और नामदेवने जो अेक लाख अभंग लिखनेका संकल्प किया था अुसे पूर्ण करनेके लिअे अुन्होंने फिरसे तुकारामके रूपमें अवतार ग्रहण किया। व्यापक अर्थमें यह भी अेक भक्तिकी जीवन-परंपरा ही है।

केवल सज्जनताकी ही परंपरा होती हो सो बात नहीं। जय-विजयका पतन हुआ और अुन्होंने हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष, शिशुपाल तथा वक्रदंत और रावण तथा कुंभकर्णकी तीन जोड़ियोंमें अवतार लेकर अपने पापोंको बढ़ाया और अन्तमें धो डाला।

पुनर्जन्मके अितने प्रकारोंसे मनुष्यको सन्तोष नहीं हुआ। अुसने अपनी कल्पना-शक्तिको और भी दौड़ाया और पर-काया-प्रवेश-विद्याको जन्म दिया।

अेक अृषि था। वह ज्ञानार्जन और तपस्याके द्वारा अपनी अुन्नति कर रहा था, परन्तु अुसकी विषय-वासनाका शमन किसी भी प्रकारसे नहीं होता था। और अृषि-जीवनको तो अिस प्रकारके पशुकर्मसे भ्रष्ट किया ही नहीं जा सकता था। अिसलिअे अुसने अेक तरीका खोज निकाला। अुसने गुफामें ध्यानस्थ होकर मृगका रूप धारण कर लिया और मृगीके साथ रमण करने लगा!

श्री शंकराचार्यके चरित्रकारोंने यह बात भी गढ़ ली है कि जब जगद्गुरुने मंडनमिश्रकी पत्नीके साथ शास्त्रार्थ करनेमें अपने अनुभव-ज्ञानकी कमी देखी, तो पर-काया-प्रवेश करके गृहस्थाश्रमका अनुभव प्राप्त कर लिया।

जीवन अेक, अखंड और संतत-धारावाही है। अिस मान्यता अथवा अनुभवको व्यक्त करनेके लिअे मनुष्यने अनेक प्रकारकी परंपराओंकी कल्पना बांधी है। पुनर्जन्मकी कल्पना द्वारा वह अनेक युगोंको अेक साथ जोड़ सकता है और पर-काया-प्रवेश द्वारा अुसने देहभेद और स्थानभेदको मिटा कर जीवनकी अेकताको मूर्तिमान किया है। अिस प्रकार देखा जाये तो प्रत्येक कवि और नाटककारको अनेक पात्रोंकी रचना करनेमें अेक प्रकारका पर-काया-प्रवेश (अथवा पर-मानस-प्रवेश) करना ही पड़ता है। अपनी कलामें वही शिक्षक सफल हो सकता है, जो अपने शिष्यके मानसमें प्रवेश कर सकता है।

व्यक्तित्वका विकास करनेके अैसे अनेक प्रकार हैं।

३०

जीवन-परंपरा – २

१

जिस प्रकार जीवन-सातत्यकी दृष्टिसे भविष्य कालका विचार किया जाता है, वैसे ही भूतकालका विचार भी करना पड़ता है। जिस प्रकार हमारी जिज्ञासाका अेक विषय यह होता है कि नदी कहां जाती है, अुसी प्रकार और अुतनी ही प्रबल जिज्ञासाका विषय यह भी होता है कि वह कहांसे आती है। अन्तर केवल अितना ही है कि भविष्यकी बातें अघटित होती हैं, अिसलिअे अुनके परिचयके लिअे कोअी तात्कालिक साधन नहीं होता। भविष्यकी बातें या तो अनुमानकी होती हैं या कल्पनाकी। परन्तु भूतकाल तो पूर्ण हो चुकी चीज होती है। हम अुसे जानते भले ही न हों, परन्तु कहीं-न-कहीं तो अुसका अस्तित्व था ही और अिसलिअे अुसे जाननेके प्रयत्न किसी न किसी प्रकार सफल होने ही चाहिये — अैसी आशा तो मनुष्य कर ही सकता है। पूर्वजन्मकी बातें हम न जानते हों, परन्तु कोअी न कोअी तो जानता ही होगा, यह अपेक्षा मनुष्यके हृदयमें बहुत प्रबल होती है। और फिर यह विचार अुसके लिअे बिलकुल स्वाभाविक हो जाता

है कि यदि किसी अद्‌भुत रीतिसे भूतकालको जाना जा सकता हो तो भविष्य कालको क्यों नहीं जाना जा सकता? अिस अपेक्षासे ही हमने त्रिकालदर्शी अृषियोंकी कल्पना करके भविष्य कालको देखनेके लिअे ज्योतिषसे लेकर योग तककी अनेक प्रवृत्तियां आजमाअीं।

कल्पना दौड़ानेमें तो कोअी बाधा नहीं है, परन्तु मनुष्य भूत और भविष्य 'जान सकता है' अिस संभावना परसे जब हम यह मानने लगते हैं कि वह अिन्हें 'जानता ही है', तब बड़ी-बड़ी कठिनाअियां पैदा हो जाती हैं। किसीका घर पचा जानेवाले या किसीकी स्त्रीको अुठा ले जानेवालेके बचावमें यदि कोअी साधु या पुराणकार हमारे सामने आकर यह कहे कि 'पूर्वजन्ममें वही अिसका मालिक था, अिसलिअे अुसका अिस पर हक है' तो समाजमें भारी कठिनाअी पैदा हो जाती है। अितना ही कहना पड़ता है कि हम जो पूर्वजन्म और भविष्यके बारेमें कुछ जानते नहीं वह अीश्वरकी कृपा है। अितिहासके अध्ययनसे जीवनशास्त्रके सिद्धान्त निकालनेके अलावा यदि मनुष्य पुराने अधिकार भी खोज निकाले, तो जैसी अपार कठिनाअियां पैदा होंगी वैसी ही अपार कठिनाअियां भूत और भविष्यके जाननेसे पैदा होती हैं। और अुनमें अवधिकी मर्यादाका— 'टाअिम बार' का — सिद्धान्त अेक आध्यात्मिक सिद्धान्तके रूपमें स्वीकार करना पड़ता है। भूतकाल और भविष्य काल जाननेका हमें अधिकार नहीं। जाननेसे हमें लाभ नहीं, हानि ही है। जो जान सकता हो अुसे यह बात दूसरेको बतानी नहीं चाहिये। अिसमें ही अैहिक और पारमार्थिक कल्याण है, यह बात हमें स्पष्ट रूपसे समझ लेनी चाहिये।

२

वंश-परंपराके कारण जिस जीवन-सातत्यका अनुभव होता है, अुसका अध्ययन अभी ठीक-ठीक हुआ नहीं है। जो अनुमान बांधे जाते हैं वे बहुधा अेकांगी होते हैं। और वंश-परंपरा परसे सारे अनुमान निकालना भूलसे रहित भी नहीं होगा। वंश-परंपराका असर स्वीकार किया जाये तो भी वह अपूर्ण सत्य ही होगा। वंश-परंपरासे व्यक्तित्वके सब प्रश्नोंका हल नहीं निकलता। फल-ज्योतिषशास्त्र अिस जन्मकी ही बातें ठीक ठीक नहीं

जान सकता, तब फिर पूर्वजन्म और पुनर्जन्मकी बातें अुससे कैसे पूछी जा सकती हैं? योगशास्त्रका अुपयोग शरीर और मनके अूपर काबू पानेके लिअे जरूर किया जाये, परन्तु अुसकी दुहाअी देकर पूर्वजन्मकी या भविष्यके जन्मकी बातें करना जोखिम-भरा है। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म हो सकता है, होना ही चाहिये, अैसा हम कर्मके सिद्धान्त द्वारा सिद्ध कर सकते हैं। परन्तु पूर्वजन्मके विवरणोंमें अुतरना तो निरा वहम है।

३

मेरे बचपनमें पूर्वजन्म और पुनर्जन्मकी बातें तो हवामें सर्वत्र फैली हुअी थीं। जब सभी लोग अिसको मानते रहे हों और पग पग पर लोगोंकी बातोंमें अिसकी चर्चा अुठती हो, तब मेरे मनमें अिन मान्यताओंका अुदय कब हो गया यह कहना कठिन है। फिर भी बाल्यकालके संस्मरणोंको जांचता हूं तो अैसा लगता है कि स्वर्ग और पातालकी कल्पनाके साथ ही पूर्वजन्म और पुनर्जन्मकी कल्पना गुंथी हुअी थी। स्वर्ग अूपर है, रातको दिखनेवाले ताराओंसे भी अूपर है, अैसी कुछ कल्पना बंधी थी। आकाशसे कोअी तारा टूट कर गिरता तो मेरी मां, दादी या पिताजी 'नारायण नारायण' कहते। मैं पूछता तो वे जवाब देते कि "स्वर्गसे कोअी जीव जन्म लेनेके लिअे फिरसे नीचे अुतरा है। अुसका अधःपात देखकर सहानुभूतिमें हम 'नारायण नारायण' कहते हैं।" मेरी भाभीने अेक दिन मुझसे कहा — "ये तारे जो गिरते हैं, कुअेंमें गिरते हैं। कोअी पानी खींच कर कपड़े धोनेके लिअे गंगाल भरता है तब अुसमें ये आ जाते हैं। साड़ी गंगालमें धोअी जाती है तो ये साड़ीमें चले जाते हैं। साड़ी पहननेसे ये पेटमें चले जाते हैं और फिर मांके पेटसे बालक बनकर जन्म लेते हैं।" यह सब सुनकर मुझे बहुत मजा आता। कभी कभी रातको भरी हुअी गंगालमें तारोंका प्रतिबिम्ब देखकर मुझे भाभीकी बात याद आती थी।

अिस प्रकार स्वर्गका स्थान तो मैं आकाशमें ताराओंके परे स्थिर कर सका। आगे जाकर अेक मराठी कविकी कवितामें पढ़ा कि आकाशमें जो तारे दिखाअी देते हैं वे देव नहीं, देवोंके आसन हैं। देव अितने चमकते हुअे आसनों पर बैठते हैं यह जानकर मनमें अीर्ष्या हुअी। परन्तु अेक

सन्तोष हुआ कि आकाशमें जो ध्रुवका तारा दिखलाअी पड़ता है वह स्वयं ध्रुव नहीं, बल्कि ध्रुवका आसनमात्र है।

अैसा माननेमें बड़ी सुविधा दिखलाअी पड़ी। स्वर्गकी कल्पना करना सचमुच सरल था; तो भी अिसमें कैलासकी थोड़ी अड़चन थी। कैलास विष्णुलोकसे भी अूंचा और स्वर्गका शिखर होने पर भी वह हिमालय पर भी था। कुबेर और अुनके यक्ष हिमालय पर ही रहते थे। अुसके पार या अूपर, बर्फके शिखर पर कैलास होना चाहिये। रावणने वहां जाकर ही कैलास सिर पर अुठाया था। नारद आदि अृषिगण स्वर्गसे पृथ्वी पर अुतरते तब पहला पग हिमालय पर ही रखते थे। स्वर्गसे गंगा गिरी तो वह भी हिमालय पर ही आकर टकराअी।

स्वर्गमें अिन्द्रलोक, गोलोक, वैकुंठ, यमपुरी आदि अनेक प्रदेश थे और अुनकी अनेक बातें सविस्तार सुननेको मिलती थीं। हरअेक लोकमें अुसके देवता शिव, विष्णु, यम आदिके निष्ठावान नौकर रहते थे और अपने अपने सौंपे हुअे काम करते थे। विष्णुके नौकर रूप-रंगमें विष्णुके समान; शिवके नौकर बदसूरत, गंवार और भूतोंके जैसे। विष्णु हाथी पर बैठते, शिव बैल पर, यमराज भैंसे पर, चन्द्र हिरनके अूपर। दूरकी मुसाफिरी हो तो विष्णु गरुड़ पर बैठते, तुंदिल देव गणेश चूहे पर और सरस्वती तो मोर पर बैठ कर झनक-झनक नाचतीं। अिस सब जानकारीको अक्षरशः सच मान कर मैं अपनी कल्पना दौड़ाता था। धीरे धीरे स्वर्गलोकके अटपटे अितिहास-भूगोलमें मैं कुछ कुशल हो गया। 'पुण्य करके मरने पर स्वर्ग जायें तो अिस विचित्र स्वर्गलोकमें हमारा स्थान कहां होगा? हमारे पूर्वज अिस समय क्या करते होंगे? जो पूर्वज हमें बालपनमें छोड़कर चले गये हैं अुनसे जब हम बड़ी अुम्रमें मिलेंगे तो यह मिलाप कैसा होगा?' आदि-आदि अनेक कल्पनाअें मैं यथाशक्ति दौड़ाता। अिस पर जब किसीने कहा कि हमारे पूर्वज स्वर्गसे हमें देख सकते हैं और हम क्या क्या करते और सोचते हैं यह सब वे जानते हैं, तो यह सुनकर मुझे आनन्द नहीं हुआ। आकाशमें अूंचे अुड़ती हुअी चील नीचेके कंकरको भी देख सकती है; अितना ही नहीं, हमारे बीचमें नाचती हुअी गिलहरीको भी देखकर झड़प सकती है—अिस सबका तो मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान था। हम अुन्हें देख न सकें अैसे ढंगसे स्वर्गमें बैठ कर पूर्वजोंके

हमें देखनेकी बात मुझे त्रास जैसी मालूम हुअी। पुराने जमानेके ये लोग हमें नये ढंगकी पोशाक पहनते देखकर नाराज होते होंगे। परन्तु हम बगल-बन्दीके बदले कुर्ता-कोट और लंगोटीके बदले पायजामा पहनते हैं, तो अिसमें बुरा क्या है?—अिस प्रकारकी दलीलें मन किया करता था।

स्वर्गके साथ तो किसी प्रकार कल्पनाका यह संबंध बंध गया, परन्तु पाताल संबंधी कठिनाअी अिससे भारी थी। जब अितना सुना था कि पाताल हमारी पृथ्वीके नीचे है, अुस समय पृथ्वी गेंद जैसी गोल नहीं थी और अुसकी सब ओर आकाश भी फैला हुआ नहीं था। आकाश सिर्फ अुसके अूपर था। पाताल पृथ्वीके नीचे कैसे बसा होगा? अुसके अूपर आकाश तो होना ही चाहिये? घरमें निचला खंड, अूपरका खंड और तलघर होता है, अिसी तरह पाताल भी कहीं होगा अैसा लगता था।

जब सुना कि जमीनमें विवर खोदकर पाताल जाया जाता है, तब ठीक कल्पना नहीं हो सकी कि यह विवर कैसा होगा।

जब अिस प्रकार पातालकी कल्पना परेशान किये हुअे थी, अुसी समय नागलोक भी आकर कल्पनासे टकराया। नागकन्याअें नदी, सरोवर या समुद्रसे बाहर आकर राजपुत्रोंको पातालमें खींच ले जाती थीं। मनुष्यका पानीमें दम कैसे नहीं घुटने लगता होगा यह सवाल तो था ही, मगर अिसके साथ ही अेक दूसरा सवाल यह भी था कि पानीमें होकर नागलोकको कैसे पहुंचा जाता होगा? और अुस रास्तेसे पानी भी घुस कर नागलोकको जलमय कैसे नहीं कर देता होगा?

कल्पनाको अेक लोकसे कूदकर दूसरे लोकमें जाना पड़ता, था, परन्तु वह कठिन नहीं था। जागृतिसे निद्रामें और निद्रासे स्वप्नलोकमें जाकर रोज लौटनेवालेके लिअे अितनी बात कठिन नहीं होनी चाहिये।

स्वर्ग, पाताल और नागलोकके साथ पितृलोक और यमलोककी कल्पना आअी। यमलोक तो पुलिसके फर्राशखाने या जेलकी अंधेरी कोठरीके समान मनुष्यको तंग करनेकी जगह थी। यमदूत मनुष्यको किस प्रकार कष्ट देते हैं अिसका वर्णन बालकोंके आगे विस्तारपूर्वक करनेवालेको आज तो मैं सजा ही दूं; परन्तु अुस समय ये सब वर्णन मैं बहुत रसपूर्वक

सुनता था और यह जानकर न्यायकी सार्वभौमता मुझे सन्तोष प्रदान करती थी कि जो लोग दुनियामें बुरे कामोंकी सजासे बच जाते हैं, वे यमलोकमें सजाके शिकंजेमें पकड़े जाते हैं। परन्तु यमदूतोंकी कठोरताकी बातें सुनकर कंपकंपी तो छूटती ही थी। (मैंने यह भी देखा कि दूसरे कुछ लोगोंको मेरे समान कंपकंपी नहीं छूटती थी, अुलटे वे खुश होते थे और कहते थे — "लो, पाप करते हुअे मजा आता था न? अब कैसा लगता है? तुम लोग थे ही अिस लायक! अैसी सजाके बिना तुम सुधरनेवाले थोड़े ही थे?" सजा भोगनेके बाद सुधर कर पुण्यवान हो जानेकी बात किसीके बारेमें मैंने पुराणोंकी कथाओंमें नहीं सुनी थी।)

अेक बार शायद घरमें कोअी बीमार था। मैं डॉक्टरके यहां दवा लेने गया था। वहां पासके ही कमरेमें डॉक्टर किसी बीमारका आपरेशन कर रहे थे। वह आदमी चीख रहा था। अुसकी चीखें सुनकर मनमें मैं बड़ा दुःखी हो गया। अितनेमें डॉक्टरके मोटे कंपाअुंडरने कमरेके बाहरसे हंसते-हंसते कहा — "ले, अब मजा आता है?" मुझे कंपाअुंडरकी यह निर्दयता अच्छी न लगी। मेरे मुख परका तिरस्कार देख कर कंपाअुंडरने मुझसे कहा — "यह मनुष्य वेश्यागामी है। थोड़े ही महीनोंके पहले अिसी प्रकार आपरेशन करके डॉक्टरने अिसे अच्छा किया था और अिसने फिरसे 'वैसा' न करनेका डॉक्टरको वचन भी दिया था। परन्तु स्वभाव कहां जाये? भाअी साहब फिरसे बीमार होकर हाजिर हुअे हैं। अैसे आदमीके लिअे किसके मनमें दया आये?"

मुझे पुराणके यमदूतोंके वचन याद आये। वे भी पापी लोगोंको अिस कंपाअुंडरके समान ही रसपूर्वक धिक्कारते होंगे!

जो व्यक्ति स्वर्ग, मृत्यु, पाताल, यमलोक और नागलोक जैसी दुनियाओंकी कल्पना कर सकता है अुसके लिअे पुनर्जन्मकी और पूर्वजन्मकी कल्पना करना कठिन नहीं है। अिस जन्ममें जैसे कर्म किये हों, जैसा ज्ञान प्राप्त किया हो और जैसी बुद्धि विकसित की हो वैसा ही नया जन्म मनुष्यको मिलनेवाला है। (यथाकर्म, यथाश्रुतं और यथाप्रज्ञा)। अिस जीवनके सुख-दुःख और अनुकूलता-प्रतिकूलताके कारणोंकी खोज करने पर पूर्वजन्मके कर्मों तक जाना ही पड़ता है और अिस जीवनके

सदाचारों और दुराचारोंका फल भोगना अिसी दुनियामें खत्म न होनेके कारण शेषका भोगना बाकी रहनेसे पुनर्जन्मकी कल्पना करनी ही पड़ती है। अिस प्रकार मनुष्य कर्मके अटल सिद्धान्तकी न्यायनिष्ठा अपने मन पर बैटा लेता है और साथ ही अुसे अेक दूसरा समाधान भी मिलता है--(अिसे समाधान भी मान सकते हैं और भय भी कह सकते हैं)-- कि मरणसे जीवनका अन्त नहीं हो जाता। मरणके बाद भी परलोक द्वारा या पुनर्जन्म द्वारा जीवनका प्रवाह जारी ही रहनेवाला है।

परलोक या पुनर्जन्मको स्वीकार करना या न करना मनुष्यके हाथमें होता तो अुसने क्या किया होता? अपने पुत्रोंके यौवनका भी स्वयं भोग करनेवाले राजाओंने तो अिन दोनों दशाओंका स्वीकार ही किया होता। और, कभी अन्त न होनेवाली जन्म-मरण तथा जन्मान्तरकी घटमालसे घबराये हुअे लोग तो अिस घटमालसे छुटकारा अर्थात् मोक्ष मांगते ही हैं।

कुछ आधुनिक लोग कहते हैं कि यह सच है कि जीवन समस्त विश्वमें फैला हुआ है। और यह भी सही है कि अमुक प्राणियोंके मर जानेसे अखिल प्राणि-सृष्टिका नाश नहीं होता। परन्तु सच्चा मोक्ष जन्म-जन्मान्तरकी घटमालसे छुटकारा पानेमें नहीं, बल्कि मरणके बाद होनेवाले पुनर्जन्मके भ्रमसे मुक्त होनेमें है। यही सच्चा मोक्ष है। व्यक्तिका मरण होता है, परन्तु अनेक व्यक्तियोंकी परंपरा चलती रहनेके कारण जातिका मरण नहीं होता। मनुष्य मरता है, परन्तु मनुष्य-जाति नहीं मरती। प्राचीन कालमें कितने ही जानवरोंकी सम्पूर्ण जाति नष्ट हो गअी है, अुसी प्रकार यदि कभी मनुष्य-जाति भी नष्ट हो जाये तो भी अिस दुनियामें जीवन-जैसा तो रहेगा ही। और अिस दुनियाका नाश हो जाये तो वे दूसरी दुनियाअें रहेंगी। और तमाम दुनियाओंका नाश हो जाये तो भी विभु — चैतन्य -- तो रहेगा ही। अिसके सिवा जीवोंके पुनर्जन्मकी अलग कल्पना करनेकी जरूरत नहीं है।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्मकी कल्पना बचपनसे ही मनमें अितनी दृढ़तासे ठूंस दी गअी है कि अुसकी सचाअीके बारेमें मनमें शंका ही नहीं अुठती। अेक स्नेहीने आर्य-संस्कृतिकी व्याख्या ही अिस प्रकार की है — "जन्म-जन्मान्तरकी परंपरा पर जो विश्वास रखती है वही आर्य-

संस्कृति है।" "अैसी व्याख्या करनेमें यहूदी, ओसाओ और अिस्लामी तीनों संस्कृतियां आर्य-संस्कृतिमें से निकल जाती हैं। और बौद्ध, जैन, सिख, सनातनी, आर्यसमाजी सब अिस व्याख्यामें आ जाते हैं।"

मैंने अुन मित्रसे कहा कि बाअिबिलमें 'ट्वाअिस बार्न' का अुल्लेख मिलता है। यह संस्कारसे आनेवाले द्विजत्वके जैसा भले हो, परन्तु अिससे जन्मान्तरकी कल्पनाको समर्थन मिलता है।

पुनर्जन्मकी कल्पनाका कर्मके सिद्धान्तके साथ अितना अधिक मेल बैठता है कि पश्चिमके कअी विद्वान पुनर्जन्मकी अुपपत्ति स्वीकार करनेको ललचाते हैं। कठोपनिषद्का नायक नचिकेता जो कहता है वही बात ठीक है कि, "मनुष्योंमें अिस विषयमें विचिकित्सा चलती रहती है कि मरणके बाद मनुष्यकी व्यक्तिके रूपमें कोअी हस्ती रहती है या नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि 'मरणके बाद भी व्यक्तित्वकी हस्ती रहती है।' कुछ लोग कहते हैं, 'नहीं रहती।' अिस विचिकित्साका फैसला मरणके स्वामी यमराज ही कर सकते हैं।" अुपनिषद्का यम कहता है—"कर्म, श्रुत और प्रज्ञाके अनुसार जीवमात्रको पुनः जन्म लेना ही पड़ता है।"

बिलकुल बचपनमें जन्मान्तर सम्बन्धी कल्पना अस्पष्ट और अधकचरी थी। बड़ेपनमें पुराण पढ़नेसे और 'जैसा करे वैसा भरे'के न्यायकी बातें सुननेसे वह कल्पना दृढ़ हुअी। वेदान्तने अिस कल्पनाको अलग ही रूप दिया। बौद्ध और जैनधर्मके अध्ययनसे अिस कल्पनामें बहुत फर्क पड़ा। अीसाअी और अिस्लामी धार्मिक लोगोंकी मान्यता जानने और अुसकी अपूर्णता मनमें बैठ जानेके बाद पुनर्जन्म सम्बन्धी विचार फिरसे शिथिल पड़ गये। वंश-परंपराके तत्त्वके अध्ययनसे बहुत-कुछ संतोष मिला और अुसके फलस्वरूप यह लगने लगा कि पुनर्जन्मका सिद्धान्त अेक सिद्धान्त नहीं, बल्कि कल्पना है। सामान्य लोगोंमें पुनर्जन्मकी जो कल्पना होती है वह तो भ्रामक ही है, अितना विश्वास हो गया; और अब पुनर्जन्म विषयक विश्वास दृढ़ हो गया है, फिर भी अुसका स्वरूप अितना अधिक बदल गया है कि जैसा सब लोग मानते हैं वैसा विश्वास मुझमें है या नहीं, मैं कह नहीं सकता। परन्तु अितना कह सकता हूं कि मेरे गूढ़तम अनुभवोंकी मनमें जो छानबीन होती रहती है अुस परसे पुनर्जन्मकी

अुपपत्ति अनुकूल मालूम होती है। और फिर भी अैसी शंका तो अुठती ही है कि यह सब बचपनके संस्कारोंका परिणाम तो नहीं है।

३१

प्रेम अंधा है?

क्या प्रेम सचमुच अंधा होता है? कभी कभी अैसा लगता है कि अमुक अंधापन मनुष्यमें न होता तो वह प्रेम कर ही नहीं पाता। और कभी लगता है कि यदि प्रेमके दिव्य दृष्टि न होती तो निरीक्षण, परीक्षण, तुलना और बौद्धिक चिन्तन करनेके आदी हमारे चर्मचक्षु सचमुच सब-कुछ देखनेवाले केमराके लेन्सके समान पूरे अंधे निकलते। केमराने आंख खोली कि अुसके सामने जो कुछ होता है वह सब अुसे दिखलाअी पड़ जाता है। 'अमुक देखूंगा और अमुक नहीं देखूंगा,' अिस प्रकारका चुनाव या छंटनी करनेकी स्वतंत्रता अुसे होती ही नहीं। रूपसृष्टिमें सब-कुछ देखनेकी शक्तिके कारण बेचारा केमरा आत्मसृष्टिका कुछ देख ही नहीं पाता।

यहां याद आता है कि केमराका असली नाम था 'केमरा आब्स-क्यूरा' (Camera obscura) अर्थात् अंधेरी कोठरी, अंधेरा कमरा। अिसके पेटमें अंधेरा समाया हुआ न हो तो यह अपना काम कर ही नहीं सकता। फ्रेंच लोग सच्चे कवि हैं, अिसीलिअे अुन्होंने आजके युगके सबसे समर्थ दर्शकको — फोटो लेनेकी पेटीको — अितना यथार्थ नाम दिया।

मैं कह रहा था कि आत्मिक दृष्टि खिलानेके लिअे थोड़ा भौतिक अंधापन जरूरी होता है। सिनेमामें हम चित्रोंका जो चलना-फिरना देखते हैं, वह सच पूछिये तो अिसीलिअे हमें सच्चा मालूम होता है कि हमारा ध्यान अिस वस्तुस्थितिकी ओर नहीं जा सकता कि अेक चित्र जाता है और अुसकी जगह पर दूसरा ही चित्र आ जाता है। यदि यह बात ध्यानमें आ जाये कि हमारी पलकोंके हिलनेसे हमारे सामनेका चित्र पल-पल अथवा हर पलक पर खंडित होता है, तो देखनेके आनन्दसे तो हम वंचित हो ही जायें, साथ साथ हमारी देखनेकी शक्ति भी लगभग व्यर्थ हो जाये।

प्रेम है अिसीलिअे हम अपूर्ण वस्तुमें भरी हुअी पूर्णताको देख सकते हैं। प्रेम है अिसीलिअे हम दोषोंकी तात्कालिक परतके नीचे ढंके हुअे स्थायी सद्‌गुणोंको स्पष्ट रूपमें देख सकते हैं। अिसीलिअे मेरा मन होता है कि केमराकी दुनियामें जाकर प्रेमकी तुलना मैं 'अिन्फ्रा रेड' किरणोंके साथ करूं। पहाड़के अूपरसे सामनेकी घाटीमें देखूं और जब वहां सब जगह धुआं ही धुआं दिखलाअी पड़े तब यदि मैं 'अिन्फ्रा रेड' लेन्सवाले केमरासे फोटो लूं, तो वह केमरा घाटीकी तमाम बारीकियोंका अैसा चित्र खींच दे मानो वहां धुआं कहीं था ही नहीं।

* * *

मेरी बहन अक्का जब विवाहके बाद अपनी ससुराल गअी तो वहांके असंस्कारी लोग अुसकी नाजुक संस्कारिता, अभिजात अभिरुचि और अुच्च सामाजिक आदर्शोंकी कद्र न कर सके। अुन्होंने अनेक प्रकारसे अुसका अपमान किया। अुसकी कोमल भावनाओं पर प्रहार करके अुसकी भावनाओंको बोथरी कर देनेका प्रयत्न किया। अक्का जब घर आती तो मांके सामने अपनी आपबीतीका विस्तारके साथ वर्णन करती। जब यह वार्तालाप चलता होता और मैं वहां पहुंच जाता, तो अक्सर मुझे वहांसे हटा दिया जाता था। मेरे ध्यानमें अितना ही आता था कि अपनी रामकहानी सुनाते समय अक्का बिलकुल रोती नहीं। रोनेका काम मांका ही था। किसी भी प्रकारकी अुत्तेजनाके बिना अक्का कहती जाती और मां रोती जाती थीं।

अक्काके देहान्तके बाद जब जब मांको अुसकी याद आती और दुःखावेग अुमड़ता, तब तब वे अिन पुराने प्रसंगोंको याद कर करके मुझे सुनातीं। बचपनमें देखे हुअे अुन प्रसंगों और वर्षों बाद सुने हुअे अुनके बयानको जोड़-जोड़ कर मैं अपना चित्र सजीव कर लेता था।

अक्काकी ससुरालवाले जो सद्‌गुण अक्कामें देख नहीं सकते थे, वे प्रेमके कारण हमारे लिअे प्रत्यक्ष थे। जब अक्काका देहान्त हुआ अुस समय अुसकी अुम्र सोलह या अठारह वर्षकी होगी। पहली ही प्रसूतिमें वह चल बसी थी। मनुष्यके देहान्तके बाद अुसकी अुम्र बढ़ती नहीं। परन्तु जहां स्मरण-जलका सिंचन करके प्रेम द्वारा मनुष्यकी स्मृतिको जीवित

रखा जाता है, वहां अुम्रमें बढ़ती हुअे बिना ही वह विकसित होती जाती है। और जो पहले कच्चा था वह पक्का होने लगता है; जो अनिश्चित था वह निश्चित रूप धारण करता है।

जैसे जैसे मैं मांके मुखसे अक्काके जीवन-प्रसंग सुनता और अुसके पीछे रहे भावोंका मेरे सामने स्पष्टीकरण होता, वैसे वैसे अक्काकी अधिकसे अधिक अुज्ज्वल मूर्ति मेरी आंखोंके सामने खिलती जाती थी। मांके वर्णनमें अतिशयोक्ति करनेकी, कृत्रिम चित्र खड़ा करनेकी वृत्ति जरा भी नहीं थी। सच्ची भक्ति हमेशा प्रामाणिक होती है। अेडमंड बर्ककी अेक कल्पनाका अुपयोग करके कहूं तो परलोकवासी हुअे अपत्य मां-बापके लिअे वंशज न रह कर पूर्वज बन जाते हैं और मां-बापके अपत्य-वात्सल्यका रूपान्तर भक्तिमें हो जाता है।

मांके प्रस्तुत किये हुअे अक्काके स्वभाव-विशेषोंका वर्णन जैसे जैसे मैं सुनता जाता वैसे वैसे मेरा विश्वास बढ़ता जाता कि यदि मेरी अक्का अधिक जीवित रही होती और अब भी जीवित होती, तो अुसका चरित्र वैसा ही खिला होता जैसा कि मां वर्णन करती हैं।

अेक दिन अेक विचित्र वासना मेरे हृदयमें पैठ गअी। मां मुझ पर प्रेम करती हैं अिसमें शंका नहीं। यह भी मैं देखता हूं कि मैं मांकी जो थोड़ी-बहुत सेवा करता हूं अुससे अुन्हें बेहद आनन्द मिलता है। परन्तु जिस प्रकारकी प्रेम-भक्ति मांके हृदयमें अक्काके लिअे है वैसी मुझे कब मिलेगी? मैं मर जाअूं तभी अिस प्रकारकी प्रेम-भक्तिका अधिकारी हो सकता हूं। अनेक बार मनमें आता कि अितनी प्रेम-भक्ति प्राप्त करनेके लिअे तो मेरा मर जाना भी अनुचित नहीं होगा।

फिर मनमें विचार आता कि मर जानेके बाद मुझे यह प्रेम किस प्रकार देखने या जाननेको मिल सकेगा? विधाताने यह बड़ी अजीब स्थिति पैदा कर दी है कि जिस बातको जाननेके लिअे सबसे अधिक अुत्सुकता हमें खुद होती है अुसे केवल हम ही नहीं जान सकते, दूसरी सारी दुनिया जान सकती है। अैसा करनेमें विधाताको क्या आनन्द मिला होगा?

अिसके साथ अेकाअेक मनमें विचार आया कि मेरी वासना कितनी स्वार्थी है! मांके हृदयमें खिली हुअी प्रेम-भक्तिको जाननेके लिअे मैं मरनेको तैयार हो गया। परन्तु मांका क्या? अेक अक्काके मरणसे दस-दस वर्ष तक जो मां अितनी दुःखी रही हैं, वे मेरे मरणका आघात सह सकेंगी क्या? और मान भी लूं कि वे बाकीके सब लोगोंकी सेवा करनेके लिअे मेरे मरणका आघात झेल सकेंगी और जी सकेंगी, तो भी मांके अखंड धारावाहिक दुःखसे आनन्द प्राप्त करनेकी जो मैं अिच्छा करता हूं वह कितनी अनुचित है!

अिस प्रकार जब मैं अपनी वासनाकी मलिनताको देखकर अुसे शुद्ध करनेका प्रयत्न कर रहा था, अुसी समय मुझे अेक अुपमा सूझी — "हम धूप जला कर अुसकी सुगंध लेते हैं। सुगंधके लोभसे धूपको जलाते हैं। धूपको जलनेमें कितनी वेदना होती होगी अिसकी ओर हमारा ध्यान केवल अिसलिअे नहीं जाता कि धूपके अिस हृदय-दहनसे जो धुआं निकलता है वह हमारे अनुकूल होता है और हमारी हवाको भी पवित्र करता है।"

यह अुपमा मैंने जैसीकी तैसी हृदयमें संजो कर रख छोड़ी थी। अेक बार पूज्य बापूजीके बहुत थके हुअे होने पर भी जब अुनसे कोअी जरूरी लेख मांगनेके लिअे मैंने अुन्हें पत्र लिखा, तब अपनी कठोरताका अिकरार करते हुअे मैंने अिसी अुपमाका अुपयोग किया था।

३२

मूर्तियोंका ध्यान

ध्यान याने क्या? किसी वस्तुकी ओर टकटकी लगा कर या लगातार देखते रहना? प्रेमसे, विस्मयसे, भयसे या आदरसे किसी वस्तु या व्यक्तिकी ओर चित्तका जमा रहना?

अुपासनाके ग्रंथोंमें मूर्तिके ध्यानके श्लोक मिलते हैं। मूर्तिका कैसा रूप बनाकर अथवा कैसी कल्पना करके दृढ़ताके साथ अुसे मनमें रखा जाय अिसकी सूचना अथवा अिसका चित्र प्रदान करनेवाले ये श्लोक मैंने अनेक बार पढ़े हैं और याद भी किये हैं। अैसी मूर्तिका ध्यान करते रहनेसे यह मूर्ति नजरके सामने जीवित हो जाती है। जैसे कोअी जीवित मनुष्य आकर हमसे मिल जाता है, हमारे साथ बातें कर जाता है और यदि खुश हो जाय तो हमें कुछ दे भी जाता है, वैसे ही ये मूर्तियां भी जीवित होकर हमारे साथ व्यवहार करती हैं, अैसी बचपनमें मेरी मान्यता थी। मूर्तिकी आंखोंकी ओर अथवा पूजाके नारियलकी आंखोंकी ओर ध्यानपूर्वक और अुत्कट अुत्सुकताके साथ देखते रहनेसे मुझे लगता था कि अुन आंखोंसे विशिष्ट भाव प्रकट होते हैं। मेरी भावुक कल्पना जाग्रत हो जाती थी और मन अेक या दूसरे प्रकारसे अुन्नत होता था। भक्ति जितनी दृढ़ हो तो अुसीके प्रमाणमें मूर्ति जीवित होगी ही, अिस तरहकी मान्यता मनमें पक्की हो गअी थी।

अिसका अेक परिणाम यह हुआ कि मूर्तिकी सुन्दरताकी ओर और अुसके मुख पर मूर्तिकारके अुपजाये हुअे भावोंकी ओर मेरा ध्यान जाने लगा। जिस तरह हम मनुष्यका चेहरा देखकर अुसके स्वभाव और मनोविकारोंकी कुछ-न-कुछ सच्ची-झूठी या कच्ची-पक्की कल्पना करते हैं, अुसी तरह मूर्तिको देखकर भी मनमें कल्पनायें अुठने लगीं।

साथ-साथ अेक दूसरा असर भी हुआ। जिस प्रकार सगे-संबन्धियों या पूज्य पुरुषोंके प्रति आदर होनेके कारण अुनका चेहरा और शरीर कैसा भी क्यों न हो अुसकी ओर अनुकूल नजरसे ही देखनेकी वृत्ति और

शक्ति हममें विकसित हो जाती है, अुसी प्रकार मूर्तियां कैसी भी क्यों न हों, मैंने अुनकी ओर आदर-भक्ति बढ़ाना सीखा।

अिसमें अेक कठिनाअी आअी। यदि मेरे पिताजीकी नाक चपटी होती तो अुसके कारण अुनके प्रति मेरे मनमें अनादर, तिरस्कार या अरुचि पैदा न होती। नाक चपटी होने पर भी पिताजीके प्रति प्रेममें कमी न होती। यह भाव भी पैदा हो सकता था कि भगवानने मेरे पिताजीको लोगोंको अच्छी न लगनेवाली चपटी नाक दी है, अिसलिअे ही अुनके प्रति मेरी अधिक प्रीति होनी चाहिये। परन्तु मैं यह कहनेके लिअे तैयार न होता कि चपटी नाक सुन्दर है। बहुत-बहुत तो अितना भर कहता कि पिताजीकी नाक चपटी है अिसलिअे वह मुझे अच्छी लगती है। अुसमें भी किसी प्रकारकी सुन्दरता देखनेकी ओर मेरा मन झुकता। परन्तु यह मानने तक मैं न जाता कि चपटापन ही सुन्दर है, अगर यह चपटापन न होता तो चेहरेकी सुन्दरता मारी जाती। आज भी मैं अिस हद तक नहीं जा सकता। परन्तु नामदेव, तुकाराम आदि संतों द्वारा बखानी हुअी पंढरपुरके विठोबाकी मूर्ति जब मैंने देखी तो मेरे भक्त-मानसको भी आघात पहुंचा। अिस मूर्तिमें अुन भक्तोंने कौनसा सौन्दर्य देखा होगा? विट्ठलके दूसरे सब गुण गानेसे अुन्हें किसने मना किया था? अैसी बेढब मूर्तिका बखान करनेसे क्या अुसकी मसखरी ही नहीं होती? अिस प्रकारके विचार मनमें आने लगे। विठोबा-रुकमाअीकी मैंने सुन्दर मूर्तियां भी अन्यत्र देखी थीं। राम-सीता, लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण आदिकी स्तुतियोग्य मूर्तियां बहुत हैं। परन्तु अिस पंढरपुरके विठोबामें क्या है? अैसी शंकाअें मनमें आने लगीं। प्रेम अंधा होता है, यह मैं जानता था। प्रेमके लिअे अंधा बननेके लिअे मैं तैयार भी था। परन्तु यहां मेरा यह कीमिया नहीं चला। अिसलिअे मैंने आदरका कवच पहन कर अधिक विचार करना छोड़ दिया।

हमारे यहां कुछ 'गोर भटजी' (पूजापाठ करनेवाले ब्राह्मण) आया करते थे। कुछ की मूंछें फौजी ढंगकी, आंखें मानो खाने दौड़ती हों, चेहरे पर संस्कारिता ढूंढ़े न मिले और रोब अितना कि मानो कहते हों मैं सारी दुनियाको पहचानता हूं, दुनियामें सफल होनेके लिअे ही मैं पैदा किया गया हूं। अैसे भटजीके प्रति मेरे मनमें अरुचि छिपी रहती थी।

बादमें जब मैंने काशी-विश्वेश्वरका अिसी प्रकारका चित्र देखा और लिंग पर बैठाया जानेवाला चांदीका या सोनेका मुछाड़ अुग्र मुखड़ा भी देखा, तब मूर्तिका ध्यान करनेकी मेरी वृत्तिका हनन हो गया।

आगे चलकर जब मुझे श्रीरामकी, कृष्णकी अथवा गुरु दत्तात्रेयकी अनेकानेक छबियोंमें अति नाजुक, अति सुन्दर, लगभग स्त्रियोंके अवयवोंवाली छबियां देखनेको मिलीं तब तो मनमें पूरी जुगुप्सा ही पैदा हो गअी। संस्कृतमें अेक शब्द है 'पोटा'। अुसका अर्थ है स्त्रीके लक्षणोंवाला पुरुष अथवा पुरुष-लक्षणी स्त्री। भगवानके नाम पर कोअी पोटाकी छबियां बना दे तो वह असह्य ही होगा न?

अिस तरह मूर्तिके ध्यानके मेरे प्रयत्न, जो पहले अति अुत्कट और भक्तियुक्त थे, नष्ट हो गये और मूर्तिपूजाका अेक तत्त्व शिथिल पड़ गया।

३३

मानस-पूजा और आगे आगे

बचपनमें ही शिव-मानस-पूजाके श्लोक मेरे हाथ लग गये थे और अुन्हें भक्तिपूर्वक मैंने कंठ कर लिया था। अुनसे मैंने जाना कि मूर्तिपूजा करनेके बाद मनुष्य मानस-पूजा करनेका अधिकारी होता है।

मानस-पूजामें नजरके आगे कोअी पार्थिव मूर्ति नहीं होती। परन्तु मनमें ही अिष्टदेवकी ध्यान-मूर्तिकी कल्पना करनी होती है। यह मूर्ति अेकांगी या खंडित नहीं होनी चाहिये। कल्पनाकी आंखोंके सामने सर्वांग-सम्पूर्ण और अलंकृत मूर्ति खड़ी करना कोअी छोटी-मोटी बात नहीं है। बादमें अुस मूर्तिकी मानसिक द्रव्योंसे ही मन ही मनमें षोडशोपचार पूजा करनी पड़ती है। ये सब अुपचार जब पार्थिव मूर्तिके लिअे किये जाते हैं तब मूर्ति जैसीकी तैसी रहती है। नैवेद्य अर्पित कीजिये तो मूर्ति मुंह खोलकर खाती-पीती नहीं। मानस-पूजामें यह कठिनाअी नहीं है। मानस-पूजामें मूर्तिको अंगरखा पहनाअिये तो मनोमयी मूर्ति हाथ अूंचा करके बांह

चढ़ानेमें मदद भी करती है। अतः जिस प्रकार सेवक किसी राजाकी सेवा करते हैं अुसी प्रकार यह षोडशोपचार मानस-पूजा करनी होती है।

कोअी साधु अिस तरीकेसे मानस-पूजा करता था। अुसने मन ही मनमें धूप जलाअी और आसपासके लोगोंको अगरबत्तीकी सुवास मिली। केसरिया दूधकी मनोमयी कटोरी भगवानके मुंहमें लगाते हुअे अेक बार वह हाथसे छूट गअी। साधुने घबराकर आंख खोलकर देखा तो अुसके घुटनेके पास धोती पर सचमुच दूध गिरा हुआ था। अैसी अद्‌भुत बातें सुन सुन कर मैं मानसपूजा रसके साथ करने लगा।

पूजाके देवस्थानमें जो नित्य-पूजाकी मूर्तियां थीं, वे बहुत छोटी थीं — अितनी छोटी कि मुट्ठीमें आसानीसे समा जायें। मानस-पूजाके लिअे अितनी छोटी मूर्तियां कामकी नहीं। और मनकी अपार्थिव सृष्टिमें कंजूसी किसलिअे की जाये? मनुष्य जितनी बड़ी मूर्तियां मेरे बाल-मानसको अनुकूल न लगीं। अिसलिअे गणेश-चतुर्थीके लिअे घरमें गणपतिकी जितनी बड़ी मूर्ति लाअी जाती थी अुतनी बड़ी मूर्तिकी कल्पना करके मैं मानस-पूजा करने लगा। पार्थिव पूजा लम्बे समय तक की थी अिसलिअे मेरी मानसिक मूर्तियां भी स्थिर रूपसे बैठे बैठे ही सब सेवायें लेती थीं। वस्त्रार्पण करता तो मेरी मूर्तियां मनुष्यके समान खड़ी होकर धोती नहीं पहनने लगती थीं, बल्कि वस्त्र पहने हुअे ही नजरके सामने खड़ी हो जाती थीं।

खास करके जब मैं आरती अुतारता तब आरतीका दीया जैसे-जैसे घूमता वैसे-वैसे मूर्तिकी छाया अिधर-अुधर नाचती देखनेमें मुझे बहुत मजा आता था। बात यह थी कि पार्थिव पूजामें यह कलात्मक आनन्द मुझे बहुत आकर्षित करता था; अितना ही नहीं, मूर्तिकी ओर ध्यान जानेके बदले मूर्तिकी छायाकी ओर ध्यान जाता है सो ठीक नहीं, अैसा अपने मनको समझानेका मैंने बहुत प्रयत्न भी किया करता था। फिर भी ध्यान तो मूर्ति पर ही हो और अुसके आसपास नाचती छाया भी अस्पष्ट रूपसे नजरमें आ जाये, अिस तरहका दर्शन ही मुझे अधिक आकर्षक मालूम होता था। केवल मूर्तिकी जगह छायायुक्त मूर्ति ही मेरे ध्यानका विषय बन गअी थी। अैसा नहीं कि पुराणोंमें मैंने पढ़ा न हो कि मनुष्य और देवोंके बीच

दो बातोंमें अन्तर होता है — देवोंके मनुष्यके समान हिलनेवाली पलकें नहीं होतीं; और देवोंकी छाया नहीं पड़ती।

अिस प्रकारकी मानस-पूजासे मेरी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ी अैसा तो मैं कह ही नहीं सकता; अुलटे, मनमें अैसा खयाल बैठ गया कि भगवानको भी भोग-विलास करना-करवाना पड़ता है।

मानस-पूजाके कारण कल्पना-शक्ति, जिसे मैं चित्रशक्ति कहता हूं, बड़े वेगसे बढ़ी। मैंने अनेक बातों और प्रसंगोंको मन ही मनमें सविस्तार 'रिहर्स' करनेकी, अुनका अभिनय करनेकी, शक्ति विकसित की। अिससे मुझे बहुत लाभ भी हुआ और बहुत हानि भी हुअी। आगे चलकर जब मैं ज्योतिषशास्त्र अर्थात् खगोल-विद्या सीखने लगा, तब सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे आकाशमें किस प्रकार रास करते होंगे अिसका थोड़ा-सा भी वर्णन पढ़ने पर सारा चलचित्र मैं अपनी आंखोंके सामने खड़ा कर सकता था। सूर्य और अुसके ग्रहों तथा अुपग्रहोंकी गति बतलानेवाले यंत्रको — जिसे अंग्रेजीमें ओरेरी (Orrerry) कहते हैं — जब मैंने हाअीस्कूलमें देखा, तब मेरे लिअे अुससे सीखनेको कुछ बाकी नहीं रहा था। जिसे अंग्रेजीमें 'साअिंटिफिक अिमैजिनेशन' कहते हैं वह कल्पना-चित्र-शक्ति मानस-पूजा द्वारा खिली हुअी होनेके कारण ज्ञानकी अुपासनामें मुझे बहुत लाभ हुआ है।

और हानि किस प्रकार हुअी यह भी मुझे बता देना चाहिये। जब मैं बहुत छोटा था तब कभी कभी पिताजीसे हठ कर बैठता था कि घरमें गृहस्थीका अमुक सामान रखिये, अमुक वस्तुअें मुझे ला दीजिये। पिताजी कहते — "क्या हम राजा हैं, जो अैसी वस्तुअें घरमें अिकट्ठी करें?" जब मैं थोड़ा बड़ा हुआ तब अेक बार अुन्होंने मुझसे कहा — "देखो, वस्तुअें अिकट्ठी करनेसे हमें जो आनन्द होता है वह आखिरकार मानसिक ही होता है। मान लो कि मैं तुम्हें स्प्रिंगवाली अेक रेलगाड़ी खरीद दूं (अैसी अेक रेलगाड़ी अुन्होंने खरीद भी दी थी) और जब तक वह टूट न जाये तब तक तुम अुससे खेलते रहो, तो अुससे तुम्हें जो आनन्द होगा वह मानसिक ही तो होगा न? फिर तुम मनमें अैसी कल्पना क्यों नहीं करते कि हमें अेक बड़ा महल मिल गया है, हम अुसमें रहते हैं, सब

प्रकारकी साजसज्जा (फर्नीचर) अुसमें है, रंग-बिरंगी दीवारें हैं, हाथी-घोड़े सब हैं, और तुम रोज हाथीके हौदे पर बैठकर घूमते हो?"

पिताजीने तो मुझे समझानेके लिअे विनोद किया होगा, परन्तु मैं सचमुच ही अैसे मनोराज्यमें विहार करने लगा। मूर्तिपूजाके बादकी मानस-पूजासे मेरी ध्यानशक्ति या चित्र-कल्पना-शक्ति अितनी जाग्रत हो गअी थी कि कल्पनासे अिस सारे वैभवका मैं सचमुच आनन्द भोगने लगा। बिना खर्च किये (और दुःखकी बात यह है कि बिना पुरुषार्थ किये) मैं सारे भोग भोगने लगा। मानसिक शक्ति अुत्कट होनेके कारण जैसे मुझे गहरेसे गहरा आनन्द मिलने लगा, वैसे ही अुसका नुकसान भी अुतना ही अुत्कट होने लगा। यदि मानसिक सुखको प्रत्येक शारीरिक सुखके जैसा ही अुत्कट कर लिया जाये, तो अुसके मानसिक और शारीरिक दुष्परिणाम भी अुतने ही अुत्कट हुअे बिना कैसे रह सकते हैं?

शिवलीलामृतमें अेक कथा थी कि अेक विधवाको अुसका पति स्वप्नमें दर्शन देता था और भोग भी प्रदान करता था। कथामें बताया गया था कि अुस विधवाका स्वप्नका सुख जागृतिके सुखसे जरा भी कम नहीं था। फलतः अुसे वैधव्य-दुःख जैसा कुछ रहा ही नहीं। अुसका जीवन सूखा नहीं।

युवावस्थामें जब तरह तरहके विकार मनमें जाग्रत हुअे, तब मेरी यह चित्र-कल्पना-शक्ति अुनमें भी मदद करने लगी। परिणामतः मैं बाह्य आचरणमें तो अत्यन्त संयमी और गंभीर दिखाअी देता था, परन्तु कल्पनामें भोग-विलासी बन गया। अिस पर अेक निकटके युवकके हीन मनोराज्योंकी बातें मुझे सुननेको मिलीं, जिससे मैं मनोमयी रमणीके साथ रममाण होनेमें अपनी मानस-पूजा-शक्तिका प्रयोग करने लगा। मेरा दुर्दैव कि किर्लोस्कर-कृत 'संगीतसौभद्र' नाटकके अेक पदमें अर्जुनको भी सुभद्राकी अैसी ही मानस-पूजा करते चित्रित किया गया था। वह गीत अुस भाअीने मेरे सुनते याद करना शुरू किया:

नीर-क्षीरालिंगन-रूपी स्नान तुला ते घालोनी।
माझ्या अवलोकन, वस्त्रानीं टाकिन तव तनु झांकोनी॥ अित्यादि।

अर्थात् : नीर-क्षीर जैसे आलिंगनसे तुझे स्नान करा कर अपने अवलोकन रूपी वस्त्रोंसे मैं तेरे शरीरको आच्छादित कर दूंगा। अित्यादि।

[अैसा प्रत्यक्ष अनुभव होनेके कारण ही आगे चल कर साहित्यकारोंसे यह कहनेका मेरा आग्रह बढ़ गया कि तुम्हारे साहित्यमें शृंगार भले कितना ही हो, परन्तु नवयुवकोंके हाथोंमें जानेवाली पुस्तकोंमें और खास करके पाठ्य-पुस्तकोंमें कल्पनाको विकारी अुत्तेजन देने जैसा कुछ नहीं होना चाहिये।]

भगवानकी मूर्तिपूजा और मानस-पूजा दोनोंका अनुभव लेनेके बाद मनमें विचार आया कि दोनों पूजाअें और दोनों ध्यान आखिरकार बाह्य ही हैं। खुली नजरके सामने मूर्ति हो या बन्द आंखोंके सामने मनोमयी मूर्ति हो, हैं तो दोनों मूर्तियां ही। और अुनकी पूजा द्रव्य द्वारा तथा क्रिया द्वारा ही होती है। मूर्तिपूजा जितना बाह्यार्चन है अुतना ही बाह्यार्चन वह मानस-पूजा भी है, जो अब तक मैं करता था। जैसे स्त्री अपने पतिकी सेवा करती है, बच्चोंकी सेवा करती है अथवा बच्चे मां-बापकी सेवा करते हैं, अुसी प्रकार भक्त अपने अुपास्य देवकी बिना मांगे और बिना जरूरी जो सेवा करता है, अुसका नाम है पूजा — अितना मैं समझ सका। हम बीमारों, बालकों और अतिथियोंकी जो जरूरी सेवा करते हैं वह अुन अुन लोगोंके हित और संतोषके लिअे करते हैं। भगवानको अैसी सेवाकी जरूरत नहीं होती, फिर भी हम अपने संतोषके लिअे अुसकी सेवा करते हैं। और वह करने देता है।

लोग और शास्त्रकार मानते हैं कि जिस तरह कोअी हमारी खुशामद करे या हमें मानपत्र दे और अुसमें केवल अुन्हीं बातोंका अुल्लेख करे जिन्हें हम जानते हैं तो हमें संतोष होता है (यद्यपि यह संतोष अुच्च कोटिका नहीं माना जाता), अुसी तरह भगवानको भी स्तुतिसे संतोष होता है। जब प्रजा राजासे कहती है कि आप न्यायी और दयालु हैं, तब अुससे कोअी अैसी बातें नहीं कही जातीं जो वह न जानता हो, परन्तु प्रजा यह बताना चाहती है कि आप न्यायी और दयालु हैं यह हमने देखा है। हमें यह अच्छा लगता है। हम अिसकी कदर करते हैं। आप न्यायी हैं अिसीलिअे हम राजनिष्ठ हैं। स्तुति करनेवाला सचमुच अितना ही

कहता है कि मैं कृतघ्न नहीं हूं। कदरदान व्यक्तिकी वृत्तिकी ही अपेक्षा मुझसे करो। अितना आश्वासन मिलनेसे सामनेका व्यक्ति संतुष्ट होता है; और साथ साथ यह भी समझता है कि मेरा कर्तव्य क्या है।

अीश्वरकी स्तुति करनेमें अैसा ही कुछ वातावरण पैदा होता है। भक्तोंने निश्चित किया है कि अीश्वर स्तुति-प्रिय है। मनुष्य स्तुति-प्रिय हो तो वह शोभा नहीं देता। अीश्वर अैसा हो तो कोअी बाधा नहीं। अिस्लामी (और अीसाअी भी) साधुओंने तो यहां तक माना है कि मनुष्यसे मांगते रहो तो वह अूब जाता है, नाराज हो जाता है; परन्तु अीश्वरसे न मांगो तो वह नाराज होता है।

भगवान क्या करे! मनुष्य जैसी अिच्छा करता है वैसा रूप ही नहीं, बल्कि स्वभाव भी अुसे धारण करना पड़ता है!

अीश्वरकी स्तुति करनेसे हमें अीश्वरके स्वरूपका ज्ञान होता है, भान होता है, और वह भान ताजा भी रहता है। यह स्तुतिका पहला लाभ है। ज्ञानी भक्त कहते हैं कि यही मुख्य लाभ है।

मूर्तिपूजा, मानस-पूजा, मूर्तिका ध्यान, भगवानकी स्तुति और स्तोत्र सबका वर्षों तक अनुभव लेनेके बाद मैंने वेदान्तका थोड़ा-बहुत अध्ययन किया। भगवानका वास सब जगह है, अिसलिअे हमारे हृदयमें भी है, अितनी बात बचपनसे सुनी और मानी थी। बचपनमें मैंने अिसका यह अर्थ किया था कि छातीके अन्दर अेक छोटासा आला होगा और अुसके अन्दर भगवानकी मूर्ति रहती होगी। वहां बैठकर न केवल भगवान यह देख लेता है कि हम क्या क्या करते हैं, बल्कि यह भी जान लेता है कि हमारे मनमें क्या क्या चलता है। अैसा विश्वास पैदा होनेके कारण जब जब यह विश्वास जाग्रत होता, तब तब यह चिन्ता रहती कि मेरे हाथोंसे अनार्य कृत्य कदापि नहीं होने चाहिये। अितना ही नहीं, मनमें भी अच्छे विचार ही आने चाहिये।

स्वामी विवेकानन्दके लेखोंको पढ़नेके बाद यह बोध हुआ कि भगवान हमारे हृदयमें है अितना ही नहीं, बल्कि जिसे हम 'हम' कहते हैं वह हमारा आत्मतत्त्व और जगत-चालक परमात्म-तत्त्व दोनों तात्त्विक रूपमें अेक ही हैं। हमारा अन्तरात्मा ही विश्वात्मा है। अिसलिअे हमारी कमियोंके कारण

अन्तरात्मामें जो संकुचितता आ जाती है अुसे दूर करना ही जीवनकी मुख्य साधना है। भगवानकी मृण्मयी अथवा मनोमयी मूर्तिको सुखोपभोग प्रदान करना सच्ची पूजा नहीं है, हृदयस्थ जीवतत्त्वके दोषोंको निकाल कर अुसे शिवतत्त्वका शुद्ध, व्यापक, सम्पूर्ण और सार्वभौम रूप देना ही साधना है, वही पूजा है। आगे चलकर मालूम हुआ कि अैसा रूप देनेसे नहीं दिया जा सकता, वह तो मूलतः मौजूद ही है। अुसे प्रकट करना, अुसका साक्षात्कार करना और स्वयं तदाकार हो जाना यही सच्ची साधना है। भगवान जैसा है वैसा अुसे 'डिस-कवर' (अनावृत) करना अर्थात् अुसके अूपर आकर पड़े हुअे 'कवर' (आवरण) को दूर करना ही मुख्य साधना है।

साधनाका यह रूप जब स्पष्ट हुआ तभी मैंने मनमें निश्चय किया कि पत्थरसे मूर्ति गढ़ना अेक साधना कही जायगी। और पत्थरके अन्दर बसी हुअी मूर्तिको खोज निकालना और अुतना भाग छोड़कर अुसके अूपरकी अनावश्यक पपड़ी निकाल डालना दूसरी साधना है। जब अिसी प्रकारकी कविता मुझे पढ़नेको मिली तब मुझे अपार आनन्द हुआ। और मैं कहने लगा कि मेरी ही कल्पना अिन कवियोंने अपनाअी है! मेरे मनमें अिस कल्पनाके स्फुरित होनेके पहले ही कविने वह कविता लिखी हो तो भी क्या?

मूर्ति-निर्माणकी अिन दो कल्पनाओं द्वारा साधनाका स्वरूप अुत्तम रीतिसे व्यक्त होता है।

अनगढ़े या असंस्कारी जीवनमें से सर्वांग-सम्पूर्ण जीवन अुपजाना होता है, अथवा खोज निकालना पड़ता है। यहां तक पहुंचने पर मेरी साधनाका क्रम पूरा-का-पूरा बदल गया। पार्थिव अथवा मानसिक द्रव्योंका ध्यान छूट गया और गुणोंकी अुपासना शुरू हुअी। जिस तरह पारसमणि लोहेको बदल कर सोना बना देता है, अुसी तरह लोहेके समान जड़ जीवनको साधना द्वारा अुन्नत करना और सोनेके समान अुसे तेजरूप बना देना ही सच्ची साधना है, अैसा भाव अन्दरसे अुपजा।

अिस दिशामें लम्बे समय तक चलनेके बाद मेरी श्रद्धामें ही अेक भारी क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगा।

पहले मेरी कल्पना थी कि पूर्णता अेक निश्चित स्थिति है। अिस स्थिति पर पहुंचनेके बाद जीवनमें परिवर्तन करना शेष नहीं रहता। अमुक कोटि तक पहुंच गये कि गंगा नहा लिये। अिसके बाद करनेको या बननेको शेष कुछ नहीं रहता। केवल होना ही हमारे पल्ले आ पड़ा है, अिस कल्पनाको अेकाअेक अेक शंकाने धक्का दिया। स्थिर पूर्णता अन्तमें मृत पूर्णता तो नहीं हो बैठेगी? यह शंका मनमें पैदा हुअी। अिस शंकाने जीवनमें कैसे कैसे फेरफार किये, यह अभी देखना बाकी है।

यदि साधना गति है तो सिद्धि स्थिति होनी चाहिये, यह खयाल विचारक्षेत्रमें अितना दृढ़ हो गया था कि मनमें लगा करता था कि पूर्णता तक पहुंचनेके बाद केवल स्थिरता ही अनुभव करनेकी चीज रहती है। आवाजके, संगीतके अन्तमें जैसे मौन अथवा नीरवता स्थापित हो जाती है, वैसे ही प्रयत्नके अन्तमें जो शान्ति स्थापित होती है वह निष्क्रिय होनी चाहिये अैसा लगता था। मुकाम पर पहुंच जानेके बाद यात्रीके लिअे चलना शेष नहीं रह जाता।

आगे चलकर मनमें शंका अुठी कि फिर शान्ति और मृतिमें भेद क्या है? ध्वनिके अन्तमें जो विराम आता है वह क्या केवल शिथिलता ही है? किसीने सुखकी व्याख्या की है कि दुःख भोगनेके बाद, दुःखका अन्त होने पर जिस आलस्यका अनुभव होता है वही सुख है — 'सुखं दुःखान्तं आलस्यम्'। तो फिर क्या पूर्णता भी अेक प्रकारका आलस्य ही है?

नहीं। साधनामें जो प्रक्रिया होती है वह **करनी** पड़ती है। अुसके पीछे अेक प्रकारकी बाध्यता रहती है। सिद्धिके बाद प्रक्रिया तो रहती ही है, परन्तु बाध्यता निकल जाती है। परन्तु केवल आनन्दके रूपमें, स्वात्मानुभवके रूपमें, परिपूर्णताकी सुवासके रूपमें प्रक्रिया तो चलती ही रहेगी।

लोहेका गोला जब गरम किया जाता है तब वह दौड़ने नहीं लगता। जहां होता है वहीं-का-वहीं रहता है। परन्तु अुसके अन्दरका अेक अेक परमाणु नाचने लगता है। पूर्णतामें बाह्य दृष्टिसे निष्क्रियता भले ही दिखलाअी पड़े, और आन्तरिक दृष्टिसे किसी तरहका बन्धन भले न रहे, परन्तु अुसमें आत्मानुभूति जाग्रत, संस्फुरित रहती है; अितना ही नहीं, वह वर्धमान भी होती है।

जब हम कोअी दीवार चुनते हैं तो अेक अींटके अूपर दूसरी अींट जमा देते हैं। जब तक आखिरी अींट जम नहीं जाती तब तक वह दीवार अपूर्ण ही रहती है। अपूर्णता कम करते करते हम पूर्णताकी ओर जाते हैं। अिससे अुलटे, जब कली खिलकर फूल बनती है तब अैसा नहीं होता कि पहले अेक पंखुड़ी बैठे, फिर दूसरी आये, फिर तीसरी और अिस प्रकार होते होते सब पंखुड़ियोंके आ जाने पर फूल पूर्ण हो जाये। किसी भी क्षणमें और किसी भी अवस्थामें अुसमें अपूर्णता होती ही नहीं। कली भी संपूर्ण है, अधखिला फूल भी सम्पूर्ण है और पूर्ण विकसित फूल भी सम्पूर्ण है। अिसी प्रकार अिस विश्वमें सर्वत्र पूर्णता ही भरी हुअी है। अिस पूर्णताका ही विकास होता जाता है। अपूर्णता मानो कहीं थी ही नहीं। यह है सर्वेश्वरकी लीला। जहां रुकना पड़ता हो वह पूर्णता और जहां अस्वस्थ होना पड़ता हो वह अपूर्णता अैसा भेद ज्ञानी पुरुषके जगतमें होना नहीं चाहिये।

जहां तक अपूर्णताका भान है या पूर्णताका साक्षात्कार नहीं होता, वहां तक मनुष्यके लिअे साधना है। यह साधना कब पूरी हुअी या होती है, यह कहा नहीं जा सकता। परन्तु धीरे-धीरे साधना साधनाके रूपमें मिट कर लीला बनती जाती है। परिश्रम क्या और अुपभोग क्या, अिसका खयाल ही न रहे अैसा परिवर्तन हो जानेके बाद मनुष्यको यह समाधान मिलता है कि अब मैं अुन्नतिके प्रवाहमें पड़ गया हूं; सुरक्षित हूं; अब अुतावली या शिथिलता दोनोंको स्थान नहीं रहा।

साधनाकी यह दशा यदि कच्ची हो तो वह खतरनाक है, क्योंकि अुसमें अुतावली और शिथिलता फिर फिर कर आने ही वाली है। यथाक्रम परिपक्व दशामें जब लीलाकी भूमिका आती है तब छोटेसे छोटे प्रयत्न करने पर भी अधिकसे अधिक प्रगति होती है। और फिर भी आन्तरिक समाधानके कारण अिस प्रगतिका अधिक भान प्रसन्नताको नष्ट नहीं करता।

३४

सत्यनिष्ठामें शिथिलता

१

जीवनमें यदि कोअी खास जानने लायक वस्तु है, आचरण करने और सीखने लायक वस्तु है तो वह सत्य ही है। मनुष्यके लिअे सत्य स्वाभाविक होता है। व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोषोंके कारण ही मनुष्य असत्यकी ओर झुक जाता है। बादमें तो वह बाकायदा असत्यको बढ़ाता है और सत्यकी स्वाभाविकता खो बैठता है। अिस तरहसे धीरे-धीरे असत्यके दृढ़ हो जाने पर अुसे पिघलाकर निकाल देनेके लिअे सत्यकी साधना करनी पड़ती है। अिस साधनाके लिअे अखंड जागृति, हिम्मत और निर्भयता होनी चाहिये। सबसे पहले परिणाम-भीरुता छोड़ देनी चाहिये।

मनुष्य यदि थोड़ा भी जाग्रत रहा तो वह सहज ही जान सकता है कि अुसकी सत्यनिष्ठा बढ़ रही है या घट रही है।

असत्यके अनेक प्रकार हैं। अल्प सत्य, अर्ध सत्य, विकृत सत्य, भ्रमोत्पादक सत्य, यह सब अेक प्रकार हुआ। जहां सत्य कहना चाहिये वहां सत्य न कहकर मौन सेवन करना और सामनेवाले आदमीके अूपर झूठी छाप डालना यह दूसरे प्रकारका असत्य है। और सामनेके आदमीको छलनेके लिअे सत्यके विरुद्ध कुछ दूसरा ही कह देना यह तीसरे प्रकारका नंगा और भयंकर असत्य है।

मैंने देखा है कि अच्छे अच्छे प्रामाणिक लोग भी सूक्ष्म रूपमें असत्यका सेवन करते हैं। अुनका अुद्देश्य भला-बुरा चाहे जैसा हो, परन्तु सत्यकी जाज्वल्य निष्ठा बहुत थोड़े लोगोंमें देखनेमें आती है।

हम बिना कहे यह जांच करते ही रहते हैं कि समाजमें हरअेक व्यक्ति कितने दरजे तक सत्यनिष्ठ है। सामाजिक जीवन सत्यके आधार पर ही टिका रह सकता है। जो मनुष्य सत्यकी चोरी करता है वह सब प्रकारकी चोरी करता है। 'स सर्वस्तेनकृत् नरः'—अैसा जो मनु

भगवानने कहा है सो बिलकुल सच है। हम जितने लोगोंके संपर्कमें आते हैं वे सब व्यक्तिशः हमारे प्रति कितने अनुकूल हैं और कितने प्रतिकूल हैं, यह जिस प्रकार हम अुनकी वाणी, अुनकी आवाज और अुनकी आंखों परसे देखते ही रहते हैं, अुसी तरह हर कोअी मनुष्य किस हद तक सत्यवादी है अिसकी टोह लेते रहना भी हमारा स्वभाव ही है।

परन्तु अैसी जांचमें पुख्ता अुमरके लोग शायद कमजोर पड़ सकते हैं। बालक कमजोर नहीं होते। बालकोंको तो अपनी शक्तिके हिसाबसे सारी दुनियाको समझना होता है, दुनियाको देख देख कर अपने आपको गढ़ लेना होता है। बालक जितना कुछ देखता है, वह सब अुसके लिअे दीक्षा-ग्रहण करने जैसा होता है। बड़ोंको और खास करके सगे-संबंधियोंको देख देख कर ही वह सीखता है। अिसलिअे हमारे अन्दरके असत्यको बालक अनजाने ही पहचान लेता है और स्वीकार कर लेता है—अपनाता है।

जो मनुष्य जाग्रत और अन्तर्मुख होता है वह अपने बालकोंमें, आश्रितोंमें, साथियोंमें और विद्यार्थियोंमें अपना प्रतिबिम्ब ठीक ठीक परख सकता है; और जिस प्रकार आअिनेमें देख देख कर हम अपना मुंह साफ करते हैं, अुसी प्रकार वह भी किन किन बातोंमें अुसे अपना जीवन सुधारना चाहिये अिसकी सूचनाअें अपने आसपासके वातावरणसे प्राप्त करता है।

सत्य अेक अद्भुत वस्तु है, प्रभावशाली वस्तु है। 'सत्य आत्माकी शक्ति है' यह कहना ठीक है या 'सत्य ही आत्मा है' यह कहना ठीक है, अिसका निर्णय मनमें नहीं होता।

फ्रेंच लेखक जुबेरका यह वचन मन पर भारी असर कर गया है: "Justice is Truth in action." अिसका भाषान्तर यह हो सकता है कि "न्यायका अर्थ है अमलमें आया हुआ सत्य—आचरित सत्य।" सत्याचरण ही आत्मा अथवा आत्मशक्ति है। जो मनुष्य विचारपूर्वक, जागृतिपूर्वक सत्यसे ही चिपटा रहता है अुसमें अनेक अकल्पित शक्तियां प्रकट हुअी दिखलाअी पड़ती हैं। ये शक्तियां बढ़ती हैं और घटती भी हैं। सितारका तार जितना खींचा जाता है, अुतनी अूंची आवाज देता है और जरा ढीला कर दिया जाता है तो अुसकी आवाज नीची हो जाती है। तार खींचकर आवाज चढ़ाते जानेको मींड़ कहते हैं और खींचे हुअे

तारको ढीला करते जानेको घसीट कहते हैं। ये आरोह-अवरोहके प्रकार हैं। सत्यके आरोह-अवरोहके अनुसार अुसका सुस्वर भी कम-ज्यादा होता रहता है। अुसकी सुगंध भी बदलती है। हरअेक साधकमें अिस प्रकारका आरोह-अवरोह देखनेमें आता है। साधक स्वयं अुसे पहचान ही लेता है।

कहीं पर मैं यह लिख चुका हूं कि मुझमें सत्यकी मात्रा स्वाभिमानके कारण बढ़ती गअी। जब स्याहीकी दावात अपने हाथसे ढुलक जाती है तो बालक अधिकतर बड़ोंके नाराज होनेके डरसे अुससे अिनकार कर जाते हैं, या अुस बातको दूसरेके अूपर ढोल देते हैं। बड़े लोगोंको किसीका डर नहीं होता, अिसलिअे वे कह देते हैं कि "हमारे हाथसे स्याही ढुलक गअी।" घरका नौकर पूछता है तो हम आसानीसे कह देते हैं कि "हमारे हाथसे स्याही ढुलक गअी है। यह जगह साफ कर लेना।"

यह सब देखकर मैं अपने मनमें अिस नतीजे पर पहुंचा कि जिनसे हम डरते हैं अुनके आगे झूठ बोलते हैं। अर्थात् झूठ बोलनेके लिअे अेक तरहसे यह स्वीकार करना पड़ता है कि दूसरा व्यक्ति हमसे श्रेष्ठ है; और सच बोलेंगे तो अमुक मुसीबत सहनी पड़ेगी, अिस डरसे भी हम झूठ बोलते हैं। अर्थात् परिणाम-भीरुताके कारण ही हम सत्यका द्रोह करते हैं। बादमें मैं अपने मनमें कहने लगा कि "यह अैसा कौनसा बड़ा आदमी है कि अिसके आगे मैं झूठ बोलूं? आखिरकार यह मेरा कितना नुकसान करेगा, जिसके डरसे मैं झूठ बोलूं? और पकड़े जानेके बाद मुंह पर शर्मकी रेखायें पड़ने देनेकी अपेक्षा सच ही बोल दें तो क्या बुरा है?" अिस तरहके विचारोंसे सत्यसे ही चिपटे रहनेकी वृत्ति मुझमें दृढ़ होती गअी।

दूसरी अेक वृत्ति भी बचपनसे ही मुझमें आ गअी थी। सामनेके आदमीसे बेकार और असुविधाजनक सवाल पूछूंगा तो अुसे झूठ बोलना पड़ेगा, अिस खयालसे मैं असुविधाजनक सवाल पूछना ही टाल देता था। "मैंने असुविधाजनक सवाल पूछा अिसीलिअे बेचारेको असत्य बोलना पड़ा, अिसलिअे अिसके असत्यमें मेरा हाथ है, मैंने ही अिसके हाथों पाप कराया" — अिस प्रकारकी शर्म मुझमें अितनी अधिक बढ़ी (और वह

अब भी है) कि जहां तक हो सके किसीसे अड़चनभरा सवाल न पूछना ही मेरा स्वभाव बन गया है।

अपने हृदयको परखते हुअे मुझे लगता है कि अब भी जाने-अनजाने दो तरीकोंसे मुझसे सत्यका अपलाप होता है। अिनमें से अेक प्रकार कुछ अंशोंमें निरुपद्रवी माना जायेगा। लंबी बातको छोटी करनेके लिअे कभी कभी सत्यको थोड़ा घुमा-फिरा देना पड़ता है। हिमालयकी यात्रामें जब मुझसे कोअी पूछता था कि "तुम्हारा गांव कौनसा है?" तब यदि मैं "शाहपुर-बेलगांव" कहता, तो "वह कहां है?" आदि अनेक सवाल पूछे जाते। यह सब टालनेके लिअे मैं कहता कि "मैं बंबअी तरफका हूं।" अिस पर भी सामनेवाला आदमी पूछने लगता कि "बंबअीसे कितनी दूर? बंबअीसे दक्षिणमें या पूर्वमें?" अैसी व्यर्थ जिज्ञासासे अुकता कर मैंने "तरफसे" भी निकाल डाला और अब सीधे यह कहने लगा कि "मैं बंबअीका हूं।" अिसे मैं संक्षिप्त सत्य कहता था। हिमालयके लोगोंके लिअे बंबअी और बेलगांवमें बहुत फर्क नहीं होता। अिसलिअे अिसे मैं संक्षिप्त सत्य कहता हूं। परन्तु सूरत, नासिक या पूनाके लोगोंको जवाब देता हुआ अगर मैं बंबअी कहूं तो अुसे निरा असत्य मानूंगा!

कभी कभी किसी प्रसंगका वर्णन करते हुअे, वार्ता कलात्मक हो जाये और अुसका रहस्य दीप्त हो अुठे अिसके लिअे भी वर्णनमें थोड़ा फेरफार करनेकी वृत्ति मुझमें है। अिसे निकाल देनेका मैं प्रयत्न भी करता हूं। परन्तु कभी कभी तो यह वृत्ति सत्यको घिस घिस कर अैसा रुपहला-सुनहला रूप दे देती है कि पिछले रूपके स्थान पर यह नया रूप ही समय पाकर दिमागमें बैठ जाता है। और यही पहलेसे मूल रूप रहा है, अैसा भ्रम घर कर बैठता है। बादमें यही रूप चलता सिक्का बन जाता है। फिर जब कभी अन्तर्मुख होकर मैं जांच-पड़ताल करता हूं तब असली अ-रुपहला सत्य मनमें अुभर आता है और थोड़ी देरके लिअे हृदयमें बड़ी ग्लानि छा जाती है।

काव्यमय या कलात्मक वृत्तिके कारण सत्यमें थोड़ा-बहुत फेरफार करके अुस पर पानी चढ़ा देनेकी वृत्ति हरअेक कविमें, कथाकारमें और

पुराणकारमें रहती ही होगी, अैसा मैं मानता हूं। जीवनके नित्यके प्रसंगोमें से तत्त्वज्ञान निचोनेमें यह कलावृत्ति किस दरजे तक बाधक होती है, यह मैं अब तक निश्चित नहीं कर पाया।

२

जब दो व्यक्तियोंके बीचमें अनबन हो जाती है तब हम अुनके बीचमें अच्छे सम्बन्ध पैदा करनेकी दृष्टिसे प्रयत्न करते हुअे अेक-दूसरेकी अच्छी बातें अेक-दूसरेके सामने पेश करते हैं और चिढ़में कही हुअी कड़वी बातें नहीं कहते। अैसा करनेमें हम अमुक सत्यको दबा रखते हैं और अर्धसत्य ही सामने रखते हैं। दोनोंमें से अेकने भी हमसे वैसा करनेके लिअे कहा नहीं होता। हम अपनी ही जिम्मेदारी पर अैसा करते हैं।

यदि दोनों व्यक्ति हमारी यह वृत्ति समझने लायक समझदार हों तो अुनके मनमें कृतज्ञताका भाव पैदा हो। परन्तु बहुत बार अैसा सद्भाग्य प्राप्त नहीं होता। परिणामतः दोनों हमारे अूपर चिढ़ जाते हैं कि सच बात तो कही ही नहीं। दलाल लोग जब सौदा पटानेके लिअे अैसा करते हैं तब दोनों पक्षोंको आपत्ति नहीं होती और दलालको दलाली मिलती है। हमें तो अितना भी समाधान नहीं होता। अर्थात् बीचमें पड़नेवालेके पल्ले गलतफहमी और कृतघ्नता ही पड़ती है।

किसीके विषयमें बातें करते हुअे, किसीका पक्ष प्रतिपादित करते हुअे या किसीकी ओरसे आजिजी करते हुअे मुझमें अितना मुलायमपन आ जाता है कि अुसका पक्ष अच्छा दिखे अिस चिन्तामें अुसके विरुद्ध जानेवाला सत्य मैं साधारणतः बोल ही नहीं सकता। . . . वह मनुष्य अपना स्वार्थ साधनेके लिअे सत्यका जितना अपलाप कर सके अुतना करने तक आगे बढ़नेकी वृत्ति मुझमें आ जाती है और वह स्वतंत्र रूपसे स्वभावके दोषके जैसी ही बन जाती है।

कभी कभी किसीके विषयमें खानगी तरीकेसे हमें कुछ मालूम होता है अथवा किसीके विषयमें हमारे मनमें जबरदस्त शंका अुठ आती है। अैसी स्थितिमें खानगी जानकारी अथवा शंकाका अुपयोग तो किया ही नहीं जा सकता, और मनसे अुसे निकाल डालना भी संभव नहीं होता। अैसी

हालतमें हमें खुद ही चोर जैसा बन जाना पड़ता है। यह परेशानी मैंने बहुत भोगी है। अन्तमें बापूजीसे अितना सीखा हूं कि जिसके बारेमें शंका हो अुसे खानगी तौरसे साफ बता देना चाहिये कि "तुम्हारे बारेमें मेरा मन साफ नहीं है, अैसी अैसी शंकाअें मेरे मनमें हैं। जब तक ये मनसे जाती नहीं तब तक मैं परेशान ही रहूंगा। अिसलिअे मेरे लिअे मनमें दया रखना। मैं लाचार हूं।" परन्तु अितना मौका हमेशा मिल ही सकता है, अैसा नहीं। और अैसा कहनेमें जोखिम नहीं है अैसा भी नहीं। परन्तु वह जोखिम अुठानी चाहिये।

अपने खुदके बारेमें और अपने निजी लाभ-हानिके बारेमें बिलकुल लापरवाह होने पर भी, दूसरेके प्रश्न पर अुत्पन्न होनेवाली अिस परिणाम-भीरुताने मुझे हमेशा पीड़ा पहुंचाअी है। परिणाम-भीरुताके कारण मनुष्यका तेज मंद हो जाता है और अुसका सामाजिक दरजा भी कम हो जाता है। जब मनुष्य अपने स्वार्थकी दृष्टिसे परिणाम-भीरु बनता है और अुसे सत्यका द्रोह करनेमें संकोच नहीं होता, तब अुसे परेशानी कम होती है। अिधर मेरी परेशानी तो जिसे मराठीमें 'विकतचें श्राद्ध' कहते हैं अुसकी जैसी है। "अुठ पत्थर और पड़ मेरे पैरों पर"। मेरी अिस स्थितिके कारण मुझ पर किसीने दया खाअी हो अैसा अेक भी प्रसंग याद नहीं आता। लोग यह वृत्ति समझें तब न?

जब अन्तर्मुख होकर अिन बातों पर मैं विचार करता हूं तब मनमें आता है कि अिसका अिलाज अेक ही है: जिसमें हम कामयाब नहीं हो सकते अुस धंधेमें पड़ा ही न जाये। निवृत्ति सबसे अच्छी। निवृत्तिके क्षेत्रमें भी करने योग्य बहुत होता है और अुसका महत्त्व कम नहीं होता। परन्तु आजके जमानेका तत्त्वज्ञान है प्रवृत्ति-परायणता। अिसको मैंने स्वीकार किया है; और स्वभाव भी अैसा ही गढ़ लिया है। परिणामतः मैं प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंके बीचमें झूलता रहता हूं। चाहता हूं निवृत्ति, लेकिन पड़ता हूं प्रवृत्तिमें; और दोनोंमें से अेकका भी लाभ मुझे मिल नहीं पाता। दोनोंके गैर-लाभ अेकत्र होकर अपने भाग्यमें आयें तो अुससे घबरा न जाअूं अितनी दृढ़ता या अनासक्ति मैंने अपनेमें पैदा कर ली है, अितना ही ठोस लाभ है।

मेरी जीवन-यात्राका यह तादृश चित्रण है। अिसे मैं कुछ यथार्थ रूपमें चित्रित कर सका, अिसका ही समाधान है।

३५

हमारा ध्यानमंत्र : सत्यमेव जयते

अनुभव अैसा नहीं है कि सत्यकी ही सदा विजय होती है। यदि होती तो सत्यको कोअी छोड़ता क्यों?

अिससे 'सत्यमेव जयते' का लोग यह अर्थ करते हैं कि '**अन्तमें** सत्यकी विजय होती है।' परन्तु किसके अन्तमें? सृष्टिका तो अन्त है नहीं। मनुष्यका अन्त है। हरअेक घटनाका अन्त है। किसी मनुष्यको अपनी सत्यवादिताके कारण सारे जीवन दुःख, अन्याय और पराजय भोगनी पड़े और जीवनका अन्त आने पर लोग अुसकी कदर करें, तो अुससे अिस मनुष्यको क्या लाभ हुआ? सत्यकी विजय समय पर हो तभी वह कामकी है।

अैसी वृत्तिके लोगोंको विश्वास दिलाना कि अन्तमें सत्यकी ही विजय है, अुनकी चिढ़ बढ़ाने जैसा है। अिससे अधिक अच्छा तो सत्यकी फलश्रुति ही बदल डालनेवाला जैन-वचन है — 'सच्चं लोगम्मि सारभूयं' — अिस दुनियामें साररूप तो सत्य है, बाकी सब निःसार है। प्रेम सत्यका होना चाहिये, विजयका नहीं, दुनियावी लाभका नहीं।

सत्यके पालनसे हमारा तेज बढ़ता है, चारित्र्य अुन्नत होता है; सत्यसे धैर्यकी सिद्धि होती है। जिसके पास सत्य है अुसका धीरज कभी खत्म नहीं होता। और सत्यसे जो आन्तरिक सन्तोष मिलता है, अुसकी बराबरी कर सकनेवाली कोअी दूसरी चीज दुनियामें है ही नहीं।

अिस दृष्टिसे विचार करने पर 'सत्यमेव जयते' का हमें नया ही अर्थ मिलता है। हृदय-शक्तिका बाह्य सृष्टिके साथ जितना सम्बन्ध है, सत्यकी अुतनी विजय बाह्य सृष्टिमें भी है। परन्तु सच्चा लाभ आन्तरिक सन्तोषका है। सत्यकी विजय आन्तरिक — subjective — होती है और वह अन्तमें नहीं, बल्कि **सदा**, अखंड होती रहती है।

जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र सत्यका पालन करता है अुसे आत्म-संतोष, आत्म-प्रतिष्ठा और आत्मतेज प्राप्त होता है। यही परम लाभ है।

सत्यकी विजय आन्तरिक होती है यह भाव बतानेके लिअे ही मालूम होता है अुपनिषद्के अृषियोंने यहां पर 'जि' जैसी परस्मैपदी धातुको आत्मनेपदी बनाया है। (संस्कृत व्याकरणमें परस्मैपदी और आत्मनेपदी प्रयोग होते हैं। अिनमें आत्मनेपदी अपने लिअे और परस्मैपदी दूसरेके लिअे होता है। यह भेद अब बहुत नहीं पाया जाता; परन्तु मूलतः आत्मनेपदी प्रयोग वही है, जिसका फल अपने ही लिअे होता है। अंग्रेजीमें जहां subjective शब्द आता है वहां हम 'आत्मनेपदी' रख सकते हैं। जहां objective शब्द हो वहां शायद 'परस्मैपदी' चलेगा। 'आत्मने' का अर्थ बताया है — 'आत्मार्थफलबोधनाय।')

३६

धर्मान्तर

१

शाहपुर, बेलगांव या कारवारकी ओर शिक्षाकी सुविधा अच्छी नहीं है, यह देखकर पिताजीने मेरे दो बड़े भाअियों बाबा और अण्णाको पढ़नेके लिअे पूनामें रख दिया था। वे बासेमें खाते और हाअीस्कूलमें पढ़ते थे। खर्च तो काफी होता था, फिर भी पैसा हमें समय पर नहीं मिलता, यह शिकायत पिताजीको सुननी पड़ती थी। थोड़े दिन बाद विष्णु भी पढ़नेके लिअे पूना चला गया। यह सारी व्यवस्था सन्तोषकारक न देख कर पिताजीने पूनामें अेक घर भाड़े पर ले लिया और अुसमें बाबा, बाबाकी पत्नी, अण्णा, अण्णाकी पत्नी, विष्णु, केशु, गोंदु और मैं — सब मिलकर माताजीके साथ रहने लगे। पिताजी अकेले कारवारमें नौकरी पर रहते थे। बाबाका बच्चा वासु बड़ा खिलाड़ी था। अुसे खेलानेमें हमें बड़ा मजा आता था। अितने बड़े कुटुम्बमें रह कर सबकी पढ़ाअी चलती थी। गृहस्थाश्रमी विद्यार्थी कैसे पढ़ते हैं और कैसे सीखते हैं, अिसका खयाल शायद आजके लोगोंको नहीं हो सकेगा।

मैं जिस प्रसंगका वर्णन यहां करनेवाला हूं अुस समय मैं मांके साथ पिताजीके ही पास था। परन्तु कारवारमें था या शाहपुरमें, ठीक याद नहीं है।

अेक दिन पिताजीके नाम अेक तार आया कि "आपका लड़का विष्णु अीसाअी बननेवाला है, तुरन्त आयेंगे तो ही अुसे बचा सकेंगे।" अुस जमानेमें तारका व्यवहार बहुत कम होता था। तारके तीन प्रकार थे : अर्जेन्ट (जरूरी), आर्डिनरी (साधारण) और डेफर्ड (विलम्बसे जानेवाला)। डेफर्ड तार आता तो भी अुसका लिफाफा खोलते हुअे लेनेवालेके हाथ-पैर कांपने लगते थे। दूसरे घरोंके सब लोग भी भय और अुत्कंठासे रुंधी हुअी श्वासके साथ तार सुननेके लिअे अेकत्र हो जाते थे। परन्तु यदि अर्जेन्ट तार आ जाता तब तो सारे गांवमें अेक असाधारण बातके रूपमें अुसकी चर्चा होने लगती थी।

विष्णुके अीसाअी होनेका तार पढ़कर सबके होश-हवास अुड़ गये। मरणके प्रसंग मैंने ज्यादा नहीं देखे थे। परन्तु मेरी बड़ी बहन अक्काकी मृत्युसे पिताजी और मांको कितना आघात पहुंचा था अिसका स्मरण मुझे था। मृत्युके सामने किसीकी कुछ चलती नहीं, अिसलिअे अुसका घाव तो सहन किये सिवा कोअी चारा नहीं होता। परन्तु अीसाअी होनेके समाचारने घरमें जो शोक फैलाया वह मरणके समाचारसे भी भारी था। आज विचार करने पर लगता है कि यदि विष्णुके फांसी पर चढ़नेका समाचार आया होता तो घरके लोगोंमें जैसा शोक फैला होता वैसा ही शोक और घबराहट अिस समाचारसे फैली थी। अितना तो तय हो ही गया कि पिताजीको छुट्टी लेकर तुरन्त पूना जाना चाहिये, साथ ही यह चर्चा भी चल पड़ी कि पिताजीके साथ कौन कौन जाये। लड़का न माने तो क्या करना चाहिये, अुसके मनको प्रभावित करनेके लिअे अुससे क्या क्या कहना चाहिये — आदि तरह तरहकी सूचनाअें सगे-सम्बन्धी देने लगे।

मैं अितना छोटा था कि अीसाअी होनेका अर्थ क्या है अिसकी कल्पना मुझे नहीं हुअी। मैंने दाढ़ीवाले मुसलमानोंको देखा था। पतलून और टोप पहननेवाले साहब लोगोंको भी देखा था। अिनमें से कुछ गोरे थे, कुछ काले थे। परन्तु मैं समझता था कि ये सब अपने अपने धर्मके साथ

ही पैदा हुअे होंगे। मैंने मांसे पूछा, पिताजीसे पूछा, अनेक दूसरे लोगोंसे पूछा कि विष्णु अीसाअी हो जायेगा यानी क्या करेगा? और मैं मनमें सोचता था कि यदि अीसाअी होना अितना भयानक या खराब है, तो किसलिअे विष्णु अीसाअी हो रहा होगा?

सबके पाससे मुझे अेक ही अुत्तर मिला कि "अीसाअी हो जायेगा तो हमारा नहीं रहेगा। बादमें वह शराब पियेगा, मांस खायेगा . . . अरे, गायका मांस तक खाने लगेगा और किसी मेमके साथ ब्याह करेगा। किसीके भी हाथका कुछ भी खानेमें अुसे कोअी आपत्ति नहीं होगी और हमारे लिअे तो वह मर गया जैसा ही हो जायेगा। अुसका मुख भी कैसे देखा जायेगा? हाय, रे हाय! यह क्या होने जा रहा है? घरका लड़का मां-बापका और सबका सम्बन्ध तोड़ कर परधर्ममें जानेको तैयार बैठा है! अुसे किसने अितना भरमाया या फुसलाया होगा? अुसके अूपर क्या जादू किया होगा? लोगोंके बच्चोंको अिस तरह बिटालनेमें और गलत रास्ते पर ले जानेमें अिन पादरी लोगोंको क्या मिलता होगा? अुनमें किसी तरहकी दया-माया क्यों नहीं होती?"

अिस प्रकारके अुद्‌गार सभी लोगोंके मुंहसे निकलते थे। बाबा और अण्णा वहां हैं। अुन्होंने कैसे कुछ नहीं किया? वे भी अितने लापरवाह कैसे हो गये हैं? अण्णाको तो हमेशा अपनी ही पड़ी रहती है और बाबा अपने साथियोंकी मंडलीमें ही मगन रहता है! अुनको तो पता भी नहीं होगा कि विष्णुके मनमें क्या चल रहा है, वह किससे मिलता-जुलता है और क्या करता है।

पिताजी धड़कते हुअे हृदयसे पूना गये। और पीछे रहे हुअे हम सब लोग अिस चिन्तामें अस्वस्थ रहे कि वे क्या समाचार लेकर वापस आयेंगे। छोटे बालक कुछ समझते नहीं, फिर भी घरके वातावरणका असर अुन पर हुअे बिना नहीं रहता।

पिताजी पूना पहुंचे। अण्णा और बाबा घरमें थे। विष्णु कहीं घूमने गया था। पिताजीको देखकर अण्णा और बाबाको आश्चर्य हुआ। पिताजीने अुन्हें तार बताया तो दोनोंने कहा कि हमें तो अिसका कुछ पता ही नहीं है। विष्णु घर आया। अुसके चेहरे पर भी कुछ नहीं था।

पिताजीको देखकर अुसे भी आश्चर्य हुआ। तारकी बात सुनकर वह चकित हुआ। अितनेमें अुसके कुछ साथी घर आये। कानाफूसी हुअी। अुनमें से कुछ जोरोंसे हंसे, कुछ शरमाये। जो अपराधी थे वे नौ-दो-ग्यारह हो गये। तुरन्त बात साफ हो गअी कि यह पहली अप्रैलका मजाक था। विलायतमें अंग्रेज लोग पहली अप्रैलको 'आल फूल्स डे' (All Fools' Day) कहते हैं और अुस दिन लोगोंको तरह तरहसे 'बनाने'का प्रयत्न करते हैं। अैसी प्रथा हमारे देशमें नहीं है। होलीके त्योहारमें अश्लीलता बहुत दिखलाअी पड़ती है, लोगोंको सताने या परेशान करनेके तरह-तरहसे प्रयत्न किये जाते हैं, परन्तु अिस सबमें धोखा देनेकी बात नहीं होती। लोगोंका कहना था कि विलायतके लोगोंकी अैसी मान्यता है कि पहली अप्रैलको बेवकूफ बनानेके लिअे किसी भी हद तक जाया जा सकता है।

संभव है यूरोपीय लोगोंमें अिस हद तक जानेकी प्रथा न हो और होलीके त्योहारकी असंस्कारितामें पले-पुसे लोगोंने ही पहली अप्रैलकी यह स्वदेशी आवृत्ति तैयार की हो।

कुछ भी हो। पिताजी पूनासे बिलकुल थककर, चूर चूर होकर, वापस आये। अुन्हें पछतावा यह हुआ कि लड़कोंको पढ़नेके लिअे पूना भेजा ही क्यों। सारी बात सुननेके बाद मेरे मनमें अितना ही विचार आया कि पिताजीके प्रति आदर न रखनेवाले टुच्चे साथियोंको विष्णुने क्यों अिकट्ठा किया होगा?

अिस सारे प्रसंगकी मेरे मन पर जो छाप पड़ी अुसका पृथक्करण करने पर दो-तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं। मेरे मनमें बस गया कि अीसाअी धर्म बहुत हीन धर्म है, वह मनुष्यको दुराचारकी ओर ले जाता है। यह भावना यहां तक गहरी अुतर गअी थी कि आगे चलकर अिंटर या प्रीवियसकी परीक्षा पास होने पर मेरे बड़े भाअियोंको 'नये करार' (New Testament) या पूरी बाअिबिलकी जो पुस्तकें अुपहारमें मिली थीं अुन्हें भाअू और मैं चिढ़-चिढ कर फाड़ देते थे। अुन पुस्तकोंकी जिल्द बड़ी मजबूत होती अिससे भी हमें चिढ़ होती थी।

दूसरा असर यह हुआ कि धर्मान्तर करना बड़ेसे बड़ा कुटुम्ब-द्रोह और समाज-द्रोह है। अच्छीसे अच्छी कौटुम्बिक भावनाओंको और समाज-निष्ठाको

तिलांजलि दिये बिना मनुष्य धर्मान्तरके लिअे तैयार हो ही नहीं सकता। दुनियामें जितने अपराध और पाप हैं अुनमें सबसे बड़ा अपराध और पाप धर्मान्तर है। मुझमें जो मातृभक्ति और पितृभक्ति थी और कुल-देवके प्रति माता-पिताकी निष्ठाके जो संस्कार मुझ पर पड़े थे, अुन सबको अनजान रूपमें साक्षी बनाकर मैंने अपने मनमें निश्चय किया कि मैं कभी भी धर्म-परिवर्तन नहीं करूंगा, अपना धर्म नहीं छोड़ूंगा।

२

अिसके बाद महाराष्ट्रका अितिहास पढ़ते समय यह सब वर्णन पढ़ा कि शिवाजीके समयसे पहले किस तरह लोगोंको जबरदस्ती मुसलमान बनाया जाता था। कारवार जानेके बाद यह भी सुना कि गोवामें पोर्तुगीज शासक लोगों पर कैसा धार्मिक अत्याचार करते थे। अिन सब बातोंसे धर्मान्तर सम्बन्धी चिढ़ बहुत ही बढ़ गअी। सिख लोगोंने—अुनके गुरुओंने—धर्मान्तर स्वीकार करनेकी अपेक्षा अपना सिर देना पसन्द किया, अिससे मनको बड़ी अुत्तेजना मिली। जब महाराष्ट्रके अितिहासमें मैंने पढ़ा कि औरंगजेबने शिवाजीके पुत्र संभाजीको पकड़वाकर अुसे मुसलमान बन जानेका आदेश दिया, तब संभाजीने अुसे अुत्तर देते हुअे कहा कि "आप अपनी लड़की मुझे दें तो मैं मुसलमान बन जाअूंगा", तो अिससे मेरे धर्माभिमानको गहरा धक्का पहुंचा।

आगे चलकर मैंने हिन्दू धर्मका यह सिद्धान्त पढ़ा कि हरअेकके लिअे अुसका ही धर्म श्रेष्ठ है। अिसकी गहराअीमें अुतरनेके बदले मैंने अिसका अितना ही अर्थ कर लिया कि धर्मान्तर करनेकी कोअी जरूरत नहीं है। धर्मोंके विषयमें कैसी भावना रखनी चाहिये, अिसका शुद्ध निर्णय मिला स्वामी विवेकानन्दके लेखोंसे, जो अिस प्रकार है—"सब धर्म तत्त्वतः अच्छे हैं। परन्तु प्रत्येक व्यक्तिको अुसका धर्म अुसके स्वभावकी खूबीके अनुसार मिला होता है।"

अिस भूमिकाके कारण आर्यसमाजियोंकी दूसरोंको अपने धर्ममें ले लेनेकी वृत्ति मुझे रुची नहीं। तथापि मेरे मनमें अिसका विरोध भी नहीं था। जिन हिन्दुओंका जबरदस्ती धर्मान्तर किया गया है अुन्हें और अुनके वंशजोंको अुनके धर्ममें वापस लेनेके बारेमें मेरा मन हमेशा अनुकूल रहता

था और यह बेचैनी भी रहती थी कि सनातनी लोग अितनी सीधी बातको समझते क्यों नहीं।

धर्मोंके बीचकी अिस खींचातानीके वातावरणमें मैंने गीताका यह श्लोक पढ़ा : 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'। धर्मान्तर सम्बन्धी घृणाको गीताका अितना प्रबल आधार प्राप्त है यह मान कर मैं खुश हुआ। परन्तु बादमें मनमें शंका अुठी कि जब गीता कही या लिखी गयी अुस समय तो अेकमात्र सनातन धर्मका ही अस्तित्व था। अिस्लाम, अीसाअी धर्म, जैनधर्म या बौद्धधर्म जैसा कोअी धर्म था ही नहीं। अिसलिअे वहां तो 'परधर्म' का अर्थ कुछ दूसरा ही करना चाहिये। जब बुद्धि अितनी ठिकाने पर आ गअी तब अिस श्लोकका शुद्ध अर्थ करनेके लिअे बहुतसे शास्त्रवचन भी मिल गये।

अिस प्रकारके जिसके संस्कार थे अुसे गांधीजीका सर्वधर्म-समभाव स्वीकार करनेमें कितनी कठिनाअी हुअी होगी, और हृदयसे स्वीकार कर लेने पर कितना संतोष हुआ होगा, अिसकी कल्पना कोअी समभावी व्यक्ति ही कर सकता है।

सर्वधर्म-समभावसे गांधीजीने यह अुपसिद्धान्त निकाल लिया कि जहां सारे ही धर्म अच्छे हैं वहां धर्मान्तरकी आवश्यकता ही नहीं है। यह बात सहज ही अच्छी लगने योग्य थी। परन्तु सब धर्मोंका समभावपूर्वक गहरा अध्ययन करने पर मेरे मनमें अेक नया ही अुपसिद्धान्त जाग अुठा और वह यह कि धर्मान्तर आवश्यक भले ही न हो, और स्वेच्छासे किये हुअे धर्मान्तरमें अुतावली, मोह अथवा बेवकूफी भले ही हो, परन्तु वह पाप हरगिज नहीं है, क्योंकि सब धर्म अच्छे हैं।

अन्तमें चिन्तनसे मैं अिस निर्णय पर पहुंचा कि किसी धर्मको स्वीकार करनेमें दोष नहीं है, दोष है अपना धर्म छोड़नेमें। अपना धर्म कायम रख-कर दुनियाके तमाम सद्धर्मोंको स्वीकार कर लेनेमें दोष अथवा पाप कुछ भी नहीं है। अुलटे, आजके जमानेमें तो सब धर्मोंको स्वीकार करना अेक अत्यावश्यक युग-कर्तव्य ही है।

साठ वर्षके अेक जीवनमें यह अितना बड़ा परिवर्तन!

३७

परमधर्म – आत्मदर्शन

सब धर्म भगवानकी ही बातें करते हैं। सभी मनुष्यके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनके लिअे व्यवस्था सुझाते हैं और अीश्वर-प्राप्ति लिअे कर्म, ज्ञान और भक्तिकी शिक्षा देते हैं। परन्तु धर्ममें मुख्य वस्तु है आत्म-दर्शन। अिस विशाल विश्वका रहस्य खोजता-खोजता मनुष्य परम-बृहद् ब्रह्म तक—भूमा तक—पहुंचा, परन्तु अुसे अपनानेका रास्ता मनुष्यके हाथ न लगा। अुसके बाद मनुष्य अपने भीतर अुतरा। भीतर अुतर कर जब वह अंतरतम तक पहुंचा, तब अुसे आत्माकी अुपलब्धि हुअी। अिस आत्माको अपनानेकी कोशिशमें मनुष्यको यह साक्षात्कार हुआ कि जो ब्रह्म है वही हमारा आत्मा है। 'अयं आत्मा ब्रह्म।' अिसमें से ही अिस परम रहस्यको अपनानेकी साधना अुसे मिली। अन्तरके आत्माका परब्रह्म परमात्माके साथ सम्बन्ध बांधनेको, अिन दोनोंको जोड़ देनेको ही योग कहते हैं।

अृषियोंने कहा : 'अयं तु परमो धर्मः यत् योगेन आत्मदर्शनम्।' योग द्वारा आत्माका साक्षात्कार करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। यही हमारा कर्तव्य है, अिसीमें जीवनका साफल्य निहित है।

अपनी प्रातःकालकी प्रार्थनामें हम तीन श्लोकोंमें अिस आत्माका अुपस्थान करते हैं। पहले हम अिसका स्मरण करते हैं, बादमें भजन और अन्तमें नमन करके यह अुपासना पूर्ण करते हैं। अिन श्लोकोंके माहात्म्यमें कहा गया है—'श्लोकत्रयं अिदं पुण्यं लोक-त्रय-विभूषणं। प्रातःकाले पठेत् यस्तु स याति परमां गतिम्।'

श्री भगवत्-पादाचार्यने अिन तीन श्लोकोंके अन्दर आत्म-स्वरूपका जितना हो सकता है अुतना स्पष्टीकरण कर दिया है और ध्यानके लिअे हमें पूरा मसाला दे दिया है। अिस ध्यानकी सुविधाके लिअे हम आत्म-स्वरूपका अेक स्वतंत्र चिन्तन कर लें।

* * *

सच पूछो तो, आत्मा तर्कका अथवा तात्त्विक विवेचनका विषय ही नहीं है। नैयायिकोंके ढंगसे आत्माकी चर्चा भले पूर्ण होती हो, परन्तु अुस तरीकेसे आत्मा तक पहुंचा नहीं जा सकता। हमें अपने जीवनके रास्तेसे ही आत्माकी खोज करनी चाहिये।

मान लीजिये कि अमुक गलतफहमीके कारण मैं अपने मित्र पर या किसी संबंधी पर गुस्सा हो जाता हूं, तो गुस्सेमें आकर मैं चाहे जो बोल डालूंगा। गुस्सा करते समय मैं गुस्सेके साथ अितना अेकरूप हो जाता हूं कि विनोदकी अतिशयोक्ति करके कहा जा सकता है कि वह गुस्सा ही मैं हूं। पाप करते समय मैं पापमय हो जाता हूं। पापका और मेरा अभेद हो जाता है। जब मैं लोभमें पड़ता हूं तो जिस वस्तुका लोभ करता हूं अुसके साथ तदाकार हो जाता हूं। अेक भाअीको बीड़ी पीनेका शौक था। वह थोड़ा-बहुत तत्त्वज्ञानी भी रहा होगा। बीड़ी वह पीता जाता और मुझसे कहता जाता कि 'अब मैं बीड़ी हूं; बीड़ीमय बन गया हूं; मुझमें से और सब कुछ निकल गया है और बीड़ी ही बीड़ी मुझमें भर गअी है।'

परन्तु क्रोध, पाप, लोभ या बीड़ीके साथ मेरा तादात्म्य टिकता नहीं। मेरे जीवनका यह मुख्य भाग नहीं है। क्रोधी मनुष्य हमेशा ही क्रोधमें नहीं रहता। पापी मनुष्य लगातार पाप ही नहीं करता रहता। चोर चौबीसों घंटे चोर नहीं रहता।

तो फिर, अिन सब वृत्तियोंके साथ तदाकार होनेवाला और अमुक समयके बाद अिनसे अलिप्त होनेवाला कोअी तत्त्व होना ही चाहिये। हमारा आत्मतत्त्व तो वह है, जिसका अभाव हम किसी भी समय अनुभव कर ही नहीं सकते। अिसका साक्षात्कार पूर्ण रूपमें और शुद्ध रूपमें जब होना हो तब हो, परन्तु अिसका सामान्य साक्षात्कार तो हमें निरंतर होता ही रहता है। कोअी फरियादी अदालतमें आये या न आये, न्यायाधीश जिस तरह हाजिर रहता ही है, अुसी तरह अनेक प्रकारकी वृत्तियां अुठें या न अुठें, अनुभव प्राप्त करनेको हों या न हों, आत्माकी हाजिरी तो निरंतर रहती ही है। और वह रहती है, अिसीलिअे दूसरे सब अनुभवोंको अवकाश रहता है। अपूर्णांकमें जिस तरह अेकके हरको अुड़ाया ही नहीं जा सकता, अुसी प्रकार हमारे अपूर्ण जगतमें आत्माके

हरको, आत्माकी अनुभूतिके हरको भी अुड़ाया नहीं जा सकता। यह आत्मतत्त्व हृदयमें निरंतर स्फुरित होता ही रहता है। हमारी वृत्तियां अिसकी ही धरतीके अूपर नाचती हैं और अिसे ढंकती या छिपा लेती हैं। वृत्तियां आत्माको छिपायें तो अिसमें आत्माको कोअी आपत्ति नहीं होती, क्योंकि वह जानता है कि अिससे अुसका कोअी नुकसान नहीं है, अुसे कुछ खोना भी नहीं है। परन्तु हम आत्माको भूल जायें तो अपनी सच्ची शक्तिको खो बैठते हैं। और वृत्तियोंका तो स्वभाव ही हमेशा अृणी रहनेका है। अिस संकटसे अुबर जाना हो तो आत्माका भान निरंतर जाग्रत रखना चाहिये। अिसका परिणाम यह होता है कि जिस तरह जाग्रत अवस्थामें रातके स्वप्न टिकते नहीं, अुसी तरह आत्माके शुद्ध भानके साथ मलिन वृत्तियां भी टिक नहीं सकतीं, और शुद्ध वृत्तियां अितनी अधिक समृद्ध और शान्त हो जाती हैं कि अुन्हें न तो अृण करना पड़ता और न भागदौड़ करके नींद हराम करनी पड़ती है। अिसीको हम आध्यात्मिक आरोग्य कह सकते हैं। आत्म-चिन्तन आरोग्यका अुत्तम मार्ग है। अिसीलिअे अुसको साधना कहते हैं। अिस साधनाके विषयमें व्यक्तिगत अनुभव अनेक रूपोंमें लिखनेको रहेगा ही। अभी तो मैंने यहां अिसका अिशारा भर कर दिया है।

हिमालयकी यात्रा

लेखक : **काका कालेलकर**; अनु० **दादा धर्माधिकारी**

लेखक अपनी प्रस्तावनामें लिखते हैं: "हिमालय स्वयं पार्वती जैसी भारतभूमिका पिता है। वह 'नतनयने अनिमेषे' अपनी पुत्रीका कल्याण-चिन्तन करता है। अुसका दर्शन करना हरअेक भारतवासीका कर्तव्य है। अुस दर्शनके प्रति आकर्षित करनेवाला यह शब्द-दर्शन पाठकोंको प्रिय हो।"

कीमत २.०० डाकखर्च ०.९४

स्मरण-यात्रा

लेखक : **काका कालेलकर**

अनु० **खुशालसिंह चौहान**; **श्रीपाद जोशी**

अिसमें लेखकने अपने बचपन और किशोरावस्थाके विभिन्न प्रसंगों और घटनाओंका सजीव और आकर्षक भाषामें वर्णन किया है। विद्यार्थियोंको अिसमें विशेष रस आयेगा।

कीमत ३.५० डाकखर्च १.१३

जीवनका काव्य

[तीसरी बार]

लेखक : **काका कालेलकर**; अनु० **श्रीपाद जोशी**

अिस पुस्तकमें लेखकने बताया है कि हमारे त्यौहारोंका धार्मिक और सामाजिक रहस्य क्या है और अुन्हें स्कूल या परिवारमें कैसे मनाना चाहिये।

कीमत २.०० डाकखर्च ०.९४

अुस पारके पड़ोसी

लेखक : **काका कालेलकर**; अनु० **रामनारायण चौधरी**

"जिस तरह पुराने भावुक लोग श्रद्धा और भक्तिसे मंदिरोंमें देव-दर्शनके लिये जाते हैं, अुसी तरह और अुसी श्रद्धा-भक्तिसे मैं देश-दर्शनके लिअे जाता हूं" — अिस भावनासे लेखकने पूर्व अफ्रीकाका जो दर्शन किया, वहांकी प्रकृति, पशु-पक्षियों और मानव-समाजका जो गहरा अध्ययन और निरीक्षण किया और अफ्रीकाके विशाल भूखंडमें अफ्रीकी, अेशियाअी और यूरोपीय संस्कृतियोंके समन्वयमें मानव-जातिके अुत्कर्षका जो अुज्ज्वल भविष्य देखा, अुसका रोचक और आकर्षक वर्णन अिसमें पाठकोंको मिलेगा।

कीमत ३.५० डाकखर्च १.०६

जीवनलीला

लेखक : **काकासाहब कालेलकर**; अनु० **रवीन्द्र केळेकर**

अिस पुस्तकमें लेखकने भारतके नद-नदी, तालाब-सरोवर, प्रपात और समुद्रतट, वार्षिक जल-प्रलय और मृगजल आदिका सुन्दर और आकर्षक वर्णन किया है। अपने अिस कार्यको वे साहित्य-विलास नहीं किन्तु भारतकी भक्ति और पूजाका अेक अत्यंत आनन्ददायी प्रकार मानते हैं। भारतीय साहित्य अकादमीने लेखककी अिस पुस्तकको भारतकी प्रमुख भाषाओंमें अनुवाद करवा कर प्रकाशित करनेके लिअे चुना है। अिसीसे अिस पुस्तकका महत्त्व समझमें आ सकता है।

कीमत ३.०० डाकखर्च १.१३